आपने साधना में एक ऊँची स्थिति प्राप्त की। आप उनका आशीर्वाद प्राप्त करके उत्तर भारत में हापुड़ नामक स्थान को केन्द्र बनाकर उनकी विचारधारा का व्यापक रूप में प्रचार कर रहे हैं।

आप बहुत ही परिश्रमी व्यक्ति हैं और अपने अथक और अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप श्रीअरविन्द के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद कर चुके हैं। आपने लगभग बारह, तेरह वर्षों की कठोर साधना और तपस्या से गीता और गीता-प्रबन्ध (Essays on the Gita) का मथन करके उनमें से "गीता-नवनीत" निकाला है। यह पुस्तक गीता के विषय में एक महत्त्वपूर्ण रचना है। मेरा विश्वास है कि इसके द्वारा गीता और श्रीअरविन्द के गम्भीर भावों में हिन्दी जानने वाले सरलता से प्रवेश पा सकेंगे। मैं आशा करता हूँ कि राष्ट्र-भाषा प्रेमी इसका यथा-योग्य आदर और सम्मान करेंगे।

आत्रेय निवास
बनारस, ५
५ जून, १९५५

भीखनलाल आत्रेय

समर्पण

गीता का बाल्यावस्था में मैंने यह श्लोक सुना था :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

"जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों का परित्याग करके दूसरे नवीन वस्त्रों को ग्रहण करता है इसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरों का परित्याग करके दूसरे नवीन देहों को धारण करता है"। इस श्लोक को सुनकर मुझे गीता की ओर इतना अधिक आकर्षण हुआ कि मैंने गीता को ठीक ठीक समझने के लिए संस्कृत पढ़ने का निश्चय किया और जैसे ही मैं कुछ संस्कृत पढ़ गया तो मैंने एक पण्डित से गीता के छः अध्याय पढ़े और शेष को गीता रहस्य की सहायता से स्वयं देख गया । सन् १९३०–३१ के राजनीतिक आन्दोलन के अवसर पर जब कृष्णमन्दिर (जेल) में रहने का अवसर मिला तब मैंने सम्पूर्ण गीता को कण्ठस्थ कर लिया और ज्ञानेश्वरी, मधुसूदनी, शांकर भाष्य आदि टीकायें भी देखीं । सन् १९३४ के आसपास मैंने काशी विश्वविद्यालय के एक विद्वान् से, जो कि गीता का विशेष अध्ययन किया करते थे, पूछा कि गीता पर सर्वोत्तम टीका कौनसी है ? उन्होंने उत्तर दिया कि श्रीअरविन्द का 'ऐस्सेज ऑन दी गीता" है परन्तु वह क्लिष्ट बहुत है । सन् १९३७ में पांडीचेरी जाते समय वर्धा में श्रीजमनालाल बजाज के मकान पर एक दिन ठहरने का अवसर मिला । वहाँ श्रीअरविन्द के सम्बन्ध में चर्चा के प्रसङ्ग में एक सज्जन ने जो कि इस समय उत्तर प्रदेश सरकार के एक मन्त्री हैं, कहा कि जिस समय श्रीअरविन्द का 'ऐस्सेज ओन दी गीता' छपा था उस समय ऐसी प्रसिद्धि हो गई थी कि इसके

लेखक वही हो सकते हैं जिन्होंने मूल गीता कही है । यह सुनकर 'ऐस्सेज ऑन दी गीता' पढ़ने की रुचि कुछ जागृत सी हो गई । पांडीचेरी पहुँचने के कुछ माह पीछे मैंने श्रीअरविन्द से 'ऐस्सेज ऑन दी गीता' के अध्ययन के लिए आशीर्वाद की प्रार्थना की जिसे उन्होंने प्रसन्नता के साथ प्रदान किया । सन् १९४१ में मेरे पास अनेक स्थानों से गीता-प्रवचन के लिए निमन्त्रण आए । तदनन्तर मैंने उत्तर प्रदेश, पंजाब और गुजरात के सैंकड़ों धार्मिक, सामाजिक और प्राईवेट स्थानों पर 'ऐस्सेज ऑन दी गीता' को आधार बनाकर गीता पर व्याख्यान दिये । व्याख्यानों की समाप्ति पर प्रायः श्रोतागण कुछ प्रश्न पूछा करते थे जिनमें अनेक बार उच्च कोटि के दार्शनिक विद्वान् भी होते थे । उनके उत्तरों को भली प्रकार तैयार करने के लिए श्रीअरविन्द के दिव्य जीवन, योग समन्वय आदि ग्रन्थों और भौतिक विज्ञान के सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी नवीनतम सिद्धान्तों का अध्ययन करना भी आवश्यक हुआ ।

इस प्रकार लगभग १२–१३ वर्षों के स्वाध्याय और मनन से भारतीय जनता की आवश्यकता और रुचि के अनुसार गीता पर यह व्याख्यानमाला तैयार हुई और फिर इसे श्रोताओं की प्रेरणा से क्रमबद्ध करके एक लेखमाला का रूप दे दिया गया । इसके अनेक लेख अदिति, मानव धर्म आदि पत्रों में छप चुके हैं ।

इस बीच में 'ऐस्सेज ऑन दी गीता' के भावों की दूसरी टीकाओं से तुलना करने पर पद पद पर मैंने यह अनुभव किया कि दूसरे भाष्यों की अपेक्षा श्रीअरविन्द का 'ऐस्सेज ऑन दी गीता' गीता के मूल श्लोकों के अधिक समीप है, और यह इतना अधिक समीप जान पड़ा कि मुझे इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं रहा कि इसके लेखक केवल वही हो सकते हैं कि जिन्होंने कुरुक्षेत्र भूमि में अर्जुन को उपदेश दिया है और जिन्हें महाभारत में महामति, महाप्राज्ञ कहा गया है ।

अतः मेरी यह सुनिश्चित धारणा है कि जिस गोपालनन्दन ने उपनिषद्-रूपी गाय से गीता-रूप दूध दुहा है उसने ही दूसरे रूप में गीतारूप दूध को मथन करके 'ऐस्सेज ऑन दी गीता' रूप नवनीत निकाला है। उसका कुछ अंश जो मैंने उसमें से ले लिया है अथवा स्वयं उन्होंने असीम कृपा करके अपने प्रसाद रूप में प्रदान किया है और जो इस समय पाठकों के सामने आ रहा है, उसे ही मैंने गीता-नवनीत नाम देने का साहस किया है।

अतः जिनकी कृपा से यह प्रसाद प्राप्त हुआ उनके ही पावन चरणों में अर्पण करते हुए मेरे हृदय को परम हर्ष हो रहा है :

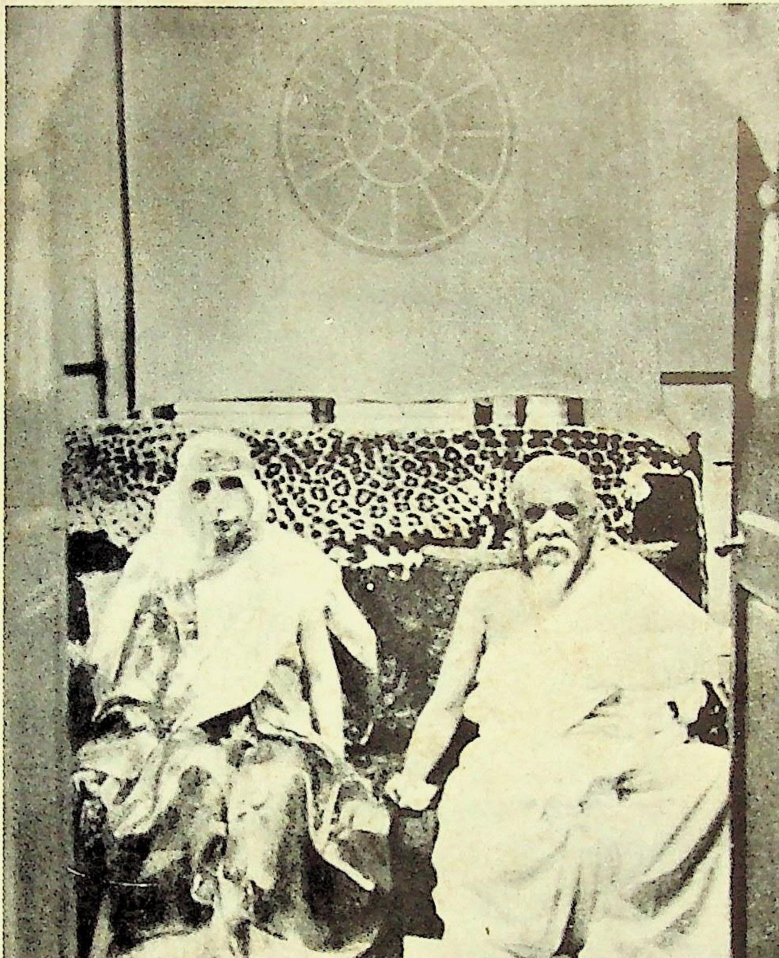
"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये"

१५ अगस्त, १९५५ —केशवदेव आचार्य

विषय-सूची

प्रथम भाग

सांख्य-योग और कर्म-योग



श्री माताजी श्री अरविंद

गीता-नवनीत

पहला परिच्छेद

गीता और उसका मानव जीवन से सम्बन्ध

गीता शब्द का अर्थ है गाई गई या कही गई। महाभारत युद्ध के समय युद्ध का परित्याग करने की इच्छा होने पर अर्जुन को श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया वही गीता है। इसके कहने वाले श्रीकृष्ण मानव देह में भगवान् थे, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से प्रकट होता है :

समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे ।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥

(महाभारत शान्ति पर्व ३४८।८)

कौरवों और पांडवों के युद्ध के समय जब दोनों पक्षों की सेनायें युद्ध के लिए तैयार थीं और अर्जुन शोकग्रस्त हो गया था तब स्वयं भगवान् ने उसे इसका उपदेश दिया था।

चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।

सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने मुख से अर्जुन को कही।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुख पद्माद्विनिःसृता ।

(महा० भीष्म० ४३।१)

जो कि स्वयं पद्मनाभ भगवान् के मुख-कमल से प्रकट हुई है।

अतः भगवान् के द्वारा कही हुई होने के कारण इसे भगवद्-गीता या श्रीमद्भगवद्-गीता कहा जाता है।

इसमें अनेक स्थानों पर उपनिषदों के पूरे श्लोक मिलते हैं, शब्द भी पर्याप्त स्थानों पर मिलते हैं और भावों की छाया तो प्रायः सर्वत्र है, इस कारण इसे उपनिषदों का सार कहा जाता है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से ज्ञात होता है :

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

"समस्त उपनिषद् गाय के समान हैं, उसके दुहने वाले गोपालनन्दन श्रीकृष्ण हैं, अर्जुन वछड़ा है (जिसे निमित्त बना कर इसका दोहन हुआ है)। गीता रूपी महान् अमृत दूध है और शुद्ध बुद्धि वाला मनुष्य इसके पान करने का अधिकारी है"। उपनिषदों के साथ इतनी अधिक समानता होने के कारण इसे कुछ विद्वान् तेरहवां उपनिषद्[1] मानते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों[2] का यह मत है कि गीता मूल रूप में उपनिषद् ही थी और प्राचीन काल के जो विद्वान् सीधे उपनिषदों में इसकी गणना नहीं करते थे, वे इसे उपनिषदों के ही समान आदर की दृष्टि से देखते रहे हैं। उपनिषद् शब्द हिन्दी में पुंल्लिग होता है परन्तु संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग होता है। अतः इसे भारतं, महाभारतं, भागवतं, गोपीगीतं आदि के समान नपुंसक लिङ्ग में भगवद्गीतं न कहकर स्त्रीलिंग में भगवद्गीता कहा गया है। भगवान् के द्वारा कही गई उपनिषद् इस भाव को प्रकट करने के लिये संस्कृत साहित्य में 'श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्' ऐसा प्रयोग आता है। भगवान् का यह उपदेश यद्यपि एक है किन्तु भगवान् की वाणी होने के कारण आदरार्थ इसके साथ बहुवचन का प्रयोग हुआ है। अतः गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो समाप्ति-सूचक वचन टीकाकारों ने दिये हैं वहाँ सर्वत्र 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' ऐसा स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त प्रयोग आता है। महाभारत में भी गीता के लिये अनेक स्थानों पर 'हरिगीतासु'[3] ऐसा स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त प्रयोग आया है। शङ्कराचार्य के भाष्य में भी 'इति गीतासु' ऐसा बहुवचनान्त

---

१. श्रीअरविन्द। २. फर्कुहर (Farquhar), कीथ (Keith) इत्यादि।
३. महाभारत शान्ति पर्व ३४६।१०; ३४८।५३

प्रयोग आया है। साधारण व्यवहार में संक्षिप्त नाम प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति होती है, अतः पहले इसमें से उपनिषद् शब्द को छोड़कर श्रीमद्भगवद्गीता, फिर भगवद्गीता और अन्त में केवल गीता कहा जाने लगा।

गीता में श्रीकृष्ण ने अनेक स्थानों पर अर्जुन को कहा है कि तू मेरा परम-वचन सुन (शृणु मे परमं वचः। १०।१; १८।६४)। परन्तु उनके इस सम्पूर्ण उपदेश को भगवद्वचन या भगवदुक्ति न कहकर जो भगवद्गीता कहा गया है, यह कुछ गम्भीर भाव रखता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान की परम्परा और श्रेष्ठता को बतलाते हुए गीता में इस प्रकार कहा गया है :

> ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
> ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।१३।१४।।

इस ज्ञान का विविध प्रकार की वैदिक ऋचाओं के द्वारा गायन किया गया है, ऋषियों से (उपनिषदों के द्वारा) अनेक प्रकार से गायन किया गया है और युक्तियुक्त निश्चायक ब्रह्मसूत्र के पदों के द्वारा गायन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस गीतं शब्द से ही गीता शब्द लिया गया है और इससे यह ध्वनित होता है कि वेद, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रों में जिस ज्ञान का वर्णन किया गया है वही गीता में है और जिस प्रकार वह ज्ञान श्रेष्ठ और उच्चकोटि का है, इसी प्रकार गीता का ज्ञान भी है।

इसके अतिरिक्त, एक ही भाव साधारण भाषा में भी कहा जा सकता है और कवित्वमयी भाषा में भी। कवित्व में होने पर उसमें विशेष माधुर्य होता है। वेद भगवान् की दिव्य वाणी है। इसकी रचना कविता में है। इसमें प्रत्येक अक्षर के साथ विशेष स्वर और मात्रा हैं। इसमें केवल शब्दों का ही संगीत नहीं है अपितु भावों का भी संगीत है। इसमें अनेक प्रकार के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भावों का संगीत है जिसे ऋषिगण अपने हृदय-गुहा में सुना करते हैं। अतः वेदों को छन्द भी कहा जाता है। गीता भी भगवान् की दिव्य वाणी है। इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति, ज्ञान, कर्म और भक्ति सांख्य, योग और वेदान्त सम्बन्धी विविध भावों का विचित्र सामञ्जस्य

साथ गायन किया गया है। यह इसका भावों का संगीत है जिसे योगी अपने शुद्ध अन्तःकरण में सुन सकते हैं। व्यास जी ने भावों के संगीत के साथ शब्दों के संगीत को मिला कर सोने में सुगन्ध उत्पन्न कर दी है। श्री अरविन्द ने इसे महा संगीत (The great diapason) कहा है। कुछ विद्वानों ने इसे दिव्य संगीत (Celescial song) कहा है। अतः भगवान् का यह परम वचन उनका दिव्य संगीत और उपनिषद् रूप होने के कारण इसे भगवद्वचनं या भगवदुक्ति न कहकर भगवद्गीता कहा गया है।

\+ \+ \+ \+ \+ \+

इसमें जिस ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है वह भगवान् का उत्तम रहस्य, गुह्याद् गुह्यतर, 'सर्व गुह्यतम' ज्ञान है। यह ज्ञान ब्रह्मभाव, भगवद्भाव (मद्भाव ४।१०), भगवान् के साधर्म्य (१४।२), स्वयं भगवान् (४।९) को प्राप्त कराने वाला है। इसका अध्ययन भगवान् के लिए ज्ञानयज्ञ (१८।७०) होता है। श्रद्धापूर्वक श्रवण करने वाला मनुष्य मुक्त होकर शुभ लोकों को प्राप्त हो जाता है (१८।७१)। जो मनुष्य इसका भक्तों में कथन करता है और भगवान् की भक्ति करता है वह भगवान् को अत्यन्त प्रिय होता है और भगवान् को प्राप्त हो जाता है (१८।६८, ६९)।

गीता में दूसरे आध्यात्मिक और दार्शनिक ग्रन्थों की अपेक्षा यह विचित्रता देखी जाती है कि इतना उच्चकोटि का आध्यात्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ होते हुये भी इसका प्रकाश वेद और उपनिषदों के समान शान्त, एकान्त अरण्य में आध्यात्मिक अनुसंधान करने वाले तत्त्व-जिज्ञासु गुरु और शिष्यों के द्वारा नहीं हुआ है अपितु युद्ध-क्षेत्र में एक योद्धा के द्वारा दूसरे योद्धा को उसके व्यवहारिक जीवन सम्बन्धी कुछ समस्याओं के सुलझाने के लिये इसका उपदेश हुआ है। अतः मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीता उठना बैठना, खाना, पीना, कृषि, व्यापार युद्ध आदि व्यवहारिक कर्मों के करने की ऐसी आन्तरिक विधि बतलाती है कि जिसके अनुसार मानव जीवन के लिए आवश्यक समस्त कार्य करता हुआ मनुष्य भगवान् को प्राप्त कर सकता है और

भगवान् को प्राप्त करके उसकी दिव्य शक्ति से अपने इस सम्पूर्ण जीवन को दिव्य बना सकता है और साथ-साथ अपने समाज, राष्ट्र और मानव-जाति के जीवन को हर प्रकार से उन्नत, समृद्ध और दिव्य बनाने में सहयोग दे सकता है। गीता लोक और परलोक में, व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता में सामंजस्य और सहयोग स्थापित करती है।

गीता वैदिक धर्म का सार है। वैदिक धर्म में जो मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करने वाले उच्चकोटि के तीन ग्रन्थ[1] माने जाते हैं और जिन्हें 'प्रस्थानत्रयी' कहा जाता है, उनमें एक गीता भी है। गीता को शङ्कराचार्य से बहुत पहले से बहुत अधिक श्रद्धा के साथ पढ़ा जाता था, इस कारण इन्हें अपने ज्ञान-मार्ग और संन्यासमार्ग की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिये गीता पर भाष्य लिखना पड़ा। शङ्कराचार्य के पीछे जो रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि भक्तिमार्ग के आचार्य हुये हैं उन्होंने भी गीता पर अपने अपने मत के अनुसार भाष्य लिखे हैं। इन सब भाष्यों के मतों में थोड़ा-बहुत भेद होने पर भी गीता के प्रति सबके हृदयों में प्रगाढ़ श्रद्धा रही है और इन सब भाष्यकारों के कारण भारतीय जनता के हृदयों में गीता के प्रति श्रद्धा-भक्ति अधिकाधिक दृढ़ होती गई है और इसका अध्ययन करने और इसके अनुसार जीवन बनाने की रुचि अधिकाधिक गहरी होती गई है।

गीता में विश्व के दूसरे धर्म-ग्रन्थों की अपेक्षा यह विलक्षणता देखी जाती है कि इसमें जो सिद्धान्त वर्णन किये गये हैं उनमें दैशिक और कालिक अंश बहुत कम हैं और जो थोड़े बहुत हैं उनके भाव इतने अधिक उदार, व्यापक और गम्भीर हैं कि उन दैशिक और कालिक अंशों के भीतर से उन्हें सरलता-पूर्वक बाहर निकाला जा सकता है और व्यापक रूप में उनका उपयोग किया जा सकता है। और ऐसा करने से गीता के सिद्धान्तों का विरोध या उनकी हानि नहीं होती अपितु उनका तेज, उनकी शक्ति और गम्भीरता अधिक बढ़ते हैं और बहुधा स्वयं गीता ने ही इस प्रकार के व्यापक अर्थों का स्पष्ट निर्देश कर दिया है। उदाहरण-स्वरूप यज्ञ शब्द है। मीमांसकों के अनुसार यज्ञ शब्द

---

१. उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता।

का अर्थ है किसी देवता के निमित्त वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करते हुये विशेष विधि के साथ अग्नि में घृत आदि द्रव्य का त्याग करना[1]। इस प्रकार के यज्ञों के करने का अधिकार केवल कुछ सुसंस्कृत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही है। यज्ञ का ऐसा अर्थ करने पर गीता की शिक्षा बहुत संकीर्ण हो जाती है। परन्तु गीता ने यज्ञ की व्यापक व्याख्या करते हुए कहा है कि अपने समस्त कर्मों को भगवान् के अर्पण करना, इन्द्रियों और मन पर संयम करना, काम, क्रोध आदि का त्याग करना, स्वाध्याय, प्राणायाम, सत्य बोलना, धन का दान आदि समस्त श्रेष्ठ कर्म यज्ञ हैं। इस प्रकार के यज्ञ समस्त देशों के रहने वाले और समस्त धर्मों के अनुयायी सभी कालों में कर सकते हैं। यही व्यापक भावना दूसरे सिद्धान्तों के भीतर भी विद्यमान है।

गीता की इस उदार विश्व व्यापी भावना के कारण इसे विश्व-धर्मग्रन्थ माना जाता है और दूसरे धर्म वालों पर भी इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है।

बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के जो दो प्रसिद्ध ग्रन्थ "महायान श्रद्धोत्पत्ति" और "सद्धर्म पुण्डरीक" हैं इनपर गीता की गहरी छाप पड़ी है और इनके द्वारा चीन, जापान आदि देशों पर गीता का प्रभाव पड़ा है। जब से भारत का यूरोप से सीधा सम्पर्क हुआ है तब से यूरोप की अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो गया है और यूरोप पर भी इसका प्रभाव पड़ रहा है। थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रवर्त्तकों ने श्रीकृष्ण को अवतार और गीता को भगवान् की दिव्य वाणी मानकर पाश्चात्य देशों में इसका बहुत अधिक प्रचार किया है। जर्मन देश के संस्कृत के विद्वान् श्रीयुत होवर (J. W. Hover) जो कि भारत में कुछ वर्षों तक मिशनरी भी रह चुके हैं, गीता को जर्मन देशीय धार्मिक भावना में प्रमुख स्थान देते हैं। उन्होंने गीता के विषय में इस प्रकार लिखा है :—

"गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका महत्व अविनाशी है। यह केवल ऐसी गहरी अन्तर्दृष्टियों को ही प्रदान नहीं करती जो कि सब समय के लिए, सब धर्मों के लिए और समस्त धार्मिक जीवन के लिए सत्य हैं, अपितु साथ ही

---

१. द्रव्यं देवता त्यागो यागः। कात्यायन श्रौत सूत्र १।२।२॥

इसमें भारत-जर्मन धार्मिक इतिहास के अत्यन्त महत्वपूर्ण रूपों का भी एक पुरातन वर्णन है। यह भारत-जर्मन के आधारभूत स्वभाव का मार्ग भी प्रदर्शित करती है। इसमें वही आत्मा कार्य करती है जो हमारी आत्मा है। इसमें हमें जीवन के अर्थ को सुलझाने का आदेश नहीं दिया गया है अपितु हमसे जिस कार्य कीं माँग की गई है उसे जानने और करने का और उसे इस प्रकार कर्म के द्वारा जीवन की समस्या पर प्रभुत्व प्राप्त करने का आदेश दिया गया है[1]"।

श्रीयुत हक्सले (Aldous Hucley) ने गीता के विषय में अपने भावों को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है :—

विश्व में जो अभी तक चिरस्थायी दर्शन-शास्त्र प्रकट हुआ है गीता उसके अत्यन्त स्पष्ट और अत्यन्त गम्भीर संक्षेपों में से है। अतः न केवल भारतीयों के लिये अपितु मनुष्य-मात्र के लिये इसका चिरस्थाई महत्व है। भगवद्गीता संभवतः चिरस्थाई दर्शन का पूर्णतया व्यवस्थित और आध्यात्मिक वर्णन है[2]।

---

1. The Gita is a work of imperishable significance. It gives us not only profound insights that are valid for all times and for all religious life. but it contains as well the classical presentation of one of the most significant phases of Indo-Germanic religious history.

It shows us the way as regards the essential nature and basal characteristic of Indo-Germanic religion. Here spirit is at work that belongs io our spirit. The central messsage of the Gita according to him is as follows :

"We are not called to solve the meaninig of life but to find out the deed demanded of us and to work and so, by action to master the riddle of life." (Quoted : in the Hibbert Journal. April 1940,P. 341)

2. "The Gita is one of the clearest and most comprehensive

वर्तमान समय में लोकमान्य तिलक ने गीता पर एक बृहत ग्रन्थ 'गीता रहस्य' लिखा है जो कि बहुत अधिक गवेषणापूर्ण और पाश्चात्य एवं प्राच्य ज्ञानों का भण्डार है। उन्होंने गीता के महत्त्व को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है :—

"श्रीमद्भगवद्गीता हमारे धर्म-ग्रन्थों में एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है। पिंड-ब्रह्माण्ड-ज्ञान सहित आत्म-विद्या के गूढ और पवित्र तत्त्वों को थोड़े में और स्पष्ट रीति से समझा देने वाला, उन्हीं तत्त्वों के आधार पर मनुष्य-मात्र के पुरुषार्थ की, अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णावस्था की पहिचान करा देने वाला, भक्ति और ज्ञान का मेल कराकर इन दोनों का शास्त्रोक्त व्यवहार के साथ संयोग करा देने वाला और इसके द्वारा संसार से दुःखित मनुष्य को शान्ति देकर उसे निष्काम कर्त्तव्य के आचरण में लगाने वाला गीता के समान बाल-बोध ग्रन्थ, संस्कृत की कौन कहे समस्त संसार के साहित्य में नहीं मिल सकता।"

विश्व के महायोगी श्री अरविन्द ने दो भागों में गीता-सम्बन्ध (Essays on the Gita) नामक ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ उनके बहुत उच्च-कोटि के अनुभव के आधार पर लिखा गया है और इस कारण अभी तक गीता पर जितने भाष्य लिखे गये हैं उन सबकी अपेक्षा अधिक गहरा और मूल गीता के अधिक समीप माना जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने योग समन्वय आदि ग्रन्थों में गीता के भावों की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। उनका योग गीता के ही

---

summaries of the perennial Philosophy ever to have been made. Hence its enduring value, not only for Indians, but for all mankind.........."The Bhagwad Gita is perhaps the most systematic spiritual statement of the perennial philosophy."

(Introduction to Bnagwad Gita by

Swami Pranavananad)

कर्मयोग का परिवर्धित रूप है और उनके आश्रम के द्वारा इसका मानव जाति के जीवन में व्यवस्थित रूप से संचार हो रहा है। उनके गीता-प्रबन्ध (Essays on Gita) को अमेरिका के कुछ विश्व-विद्यालयों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में भी स्वीकार कर लिया गया है और युरोप अमेरिका आदि देशों में काफी संख्या में विचारशील विद्वान् इससे प्रभावित हो रहे हैं। गीता सम्बन्धी इस प्रगति को देखते हुये ऐसा प्रतीत होता है कि इसका प्रभाव मानव जाति के न केवल मस्तिष्क में अपितु व्यवहारिक जीवन में दिन-प्रतिदिन गहरा होता जायगा और इससे मानव जीवन सच्चे सुख की ओर प्रगति करता रहेगा।

श्री अरविन्द ने गीता के महत्व को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है :—

"गीता जगत् की श्रेष्ठधर्म-पुस्तक है। गीता में जिस ज्ञान की संक्षेप में व्याख्या की गई है वह ज्ञान चरम और गुह्यतम है। गीता में जिस धर्म-नीति का वर्णन है, सभी धर्म-नीतियाँ उस नीति के अन्तर्गत हैं और उसपर प्रतिष्ठित हैं। गीता में जो कर्म-मार्ग प्रदर्शित किया गया है वह कर्म-मार्ग उन्नतिशील जगत् का सनातन मार्ग है।

"गीता असंख्य रत्नों को उत्पन्न करने वाला अथाह समुद्र है। समस्त जीवन इस समुद्र की तह में पहुँचने की चेष्टा करते रहने पर भी इसकी गहराई का अनुमान नहीं किया जा सकता, इसकी थाह नहीं मिलती। सैकड़ों वर्षों तक ढूंढते रहने पर भी इस रत्न-भण्डार का सहस्रांश धन भी आहरण करना दुष्कर है और उसमें से एक भी रत्न निकाल लेने पर दरिद्र धनी हो जाते है, गम्भीर विचारशील व्यक्ति ज्ञानी हो जाते हैं, भगवद्विद्वेषी लोग भगवत्प्रेमी बन जाते हैं और महापराक्रमी शक्तिमान् कर्मवीर अपने जीवन के उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये पूरी तरह सुसज्जित और सन्नद्ध होकर कर्मक्षेत्र में लौट आते हैं।

गीता अक्षय मणियों की खान है। यदि युग युग तक इस खान से मणियाँ निकालते रहें तब भी भावी वंशधर इसमें से सर्वदा नवीन नवीन अमूल्य मणि-

माणिक्य प्राप्त कर प्रसन्न और विस्मित होते रहेंगे।

ऐसी गम्भीर और गुप्त-ज्ञानपूर्ण पुस्तक होने पर भी इसकी भाषा अत्यन्त प्रांजल है, रचना अत्यन्त सरल है तथा इसका बाह्य अर्थ सहज ही समझ में आने योग्य है। गीता-समुद्र के भीतर डुबकी लगाये बिना, इसकी छोटी छोटी तरङ्गों के ऊपर-ऊपर ही सैर करने पर भी शक्ति और आनन्द की पर्याप्त वृद्धि हो जाती है। गीता रूपी खान की रत्नोद्भासित गहरी गुफा में प्रवेश न कर, केवल इसके चारों ओर घूमते रहने पर भी घासपात पर पड़ी जो उज्ज्वल मणि मिल जाती है, उससे ही हम इस जीवन में धनी बन सकते हैं[1]।

---

१. गीता की भूमिका।

दूसरा परिच्छेद

गीता का अधिकारी

जैसा कि पहले कहा जा चुका है गीता में यह विचित्रता है कि अत्यन्त उच्चकोटि का आध्यात्मिक और दार्शनिक ग्रन्थ होते हुए भी वेद और उपनिषदों के समान शान्त एकान्त अरण्य में आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों का अनुसंधान करने वाले गुरु और शिष्यों के द्वारा इसका प्रकाश नहीं हुआ है, अपितु युद्धक्षेत्र में एक योद्धा के द्वारा दूसरे योद्धा को उसके व्यावहारिक जीवन सम्बन्धी कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होने पर उनके सुलझाने के लिये इसका उपदेश हुआ है। मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए गीता के भावों को ठीक ठीक समझने के लिये इसके वक्ता (गुरु) का व्यक्तित्व, इसके अधिकारी, उपदेश का श्रवण करने वाले शिष्य का व्यक्तित्व, उसका अपने गुरु से सम्बन्ध और जिस परिस्थिति में, जिस समस्या के सुलझाने के लिये इसका उपदेश होता है उस गीता के प्रसङ्ग का ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिये।

गीता के वक्ता श्रीकृष्ण हैं। उन्हें महाभारत आदि ग्रन्थों में अवतार कहा गया है। अवतार का अर्थ है अज, अविनाशी, प्रकृति के अधिष्ठाता, समस्त भूतों के प्रभु, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् ईश्वर का स्वेच्छा से लोक-कल्याणार्थ मानव देह धारण करना और मानव कर्मप्रणाली को स्वीकार करना।

भगवान् मानव देह धारण करके जो कर्म करते हैं वे उसी दिव्य-ज्ञान से प्रवर्तित होते हैं जिससे कि वे सम्पूर्ण विश्व का संचालन करते हैं। अतः उनके इन कर्मों को दिव्य कर्म कहा जाता है। उनके मानव देह द्वारा होने वाले कर्मों में और विश्वात्मक रूप से होने वाले कर्मों में इतनी घनिष्ठ एकता होती है कि

यदि मनुष्य अवतार के कर्मों का रहस्य ठीक-ठीक समझ जाय तो उस विश्व-व्यापी भगवान् के विश्वव्यापी कर्मों के रहस्य का भी ज्ञान हो जाता है। उनके विश्वव्यापी कर्मों का रहस्य गीता में प्रकट किया गया है। गीता उस ज्ञान का मूर्त्त रूप है, जैसा कि कहा गया है :

गीता ज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम् ।

(वाराह पुराण)

गीता में वर्णित ज्ञान वही है जिससे भगवान् तीनों लोकों का पालन करते हैं।

महाभारत के श्रीकृष्ण कर्मवीर, महायोगी, महासंसारी, साम्राज्य संस्थापक, कुशल राजनीतिज्ञ और योद्धा हैं। क्षत्रिय देह में ब्रह्मज्ञानी हैं। उनके जीवन में महाशक्ति की अनुपम छटा और रहस्यमयी क्रीडा दिखाई देती है। उस रहस्य की व्याख्या गीता है।

श्रीकृष्ण जगत्प्रभु, विश्वव्यापी वासुदेव हैं। उन्होंने मनुष्यों के साथ पिता, पुत्र, भ्राता, सखा, पति, मित्र, शत्रु आदि का सम्बन्ध स्थापित करके अपनी महिमा को छिपाते हुये दिव्य ज्योति और दिव्य प्रेम की झलक दिखाई है और मनुष्यों के साथ आँख-मिचौनी जैसा खेल खेला है। उनके जीवन में आर्य ज्ञान का श्रेष्ठ रहस्य और भक्ति-मार्ग की उत्तम शिक्षा निहित है। इन दोनों का तत्त्व भी गीता में विद्यमान है।

अतः श्रीकृष्ण रूप में जो दिव्य ज्ञान, दिव्य-शक्ति और दिव्य प्रेम पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ, अभिव्यक्त हुआ, गीता उसकी वाङ्मयी मूर्ति है।

उपदेश ग्रहण करने वाला शिष्य अर्जुन है जो कि अपने युग का श्रेष्ठ मनुष्य, मानव जाति का प्रतिनिधि स्वरूप है। वह श्रीकृष्ण भगवान् का अन्तरंग सखा, भक्त और जिस संग्राम और कार्य को वे पृथ्वी पर करना चाहते हैं उसके लिए चुना हुआ उपकरण या मुख्य पात्र है, यद्यपि उस कार्य का रहस्यमय गूढ़ अभिप्राय उसे ज्ञात नहीं है। वह अभिप्राय उन मानव देहधारी भगवान् को ही ज्ञात है जो कि पर्दे के पीछे रहते हुए अपने अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति से सूत्रधार रूप में इसे कठपुतली के समान चला रहे हैं।

प्रसंग

प्रसंग यह है कि इस महासंग्राम के अवसर पर इसमें होने वाले असंख्य मनुष्यों के संहार और अनेक धर्मों में परस्पर विरोध को देखकर अर्जुन के मन में भीषण विषाद उत्पन्न होता है। उसके भीतर यह गम्भीर प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या धन, विजय, सुख-भोग ही मानव जीवन का सर्वस्व और अन्तिम लक्ष्य है? क्या इन्हें प्राप्त करने के लिये अपने पूजनीय पितामह, गुरू, श्वसुर, मामा और प्रियतम भाई, बन्धु आदि की हत्या कर देनी चाहिये? क्या यही मानव जीवन का परंश्रेयः है? यदि कोई दूसरा परं श्रेयः है तो क्यों न उसकी प्राप्ति के लिये इस सबका परित्याग कर दिया जाय? क्या है यह मानव जीवन? क्या अर्थ है मनुष्य के कर्मों का? जगदीश्वर ने इस जगत् और मनुष्य को क्यों बनाया?

अर्जुन क्षत्रिय है। क्षत्रिय का धर्म है—धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करना और अन्याय तथा अत्याचार का विरोध करना। जो व्यक्ति दूसरों पर अन्याय एवं अत्याचार करने वाले हैं उनके साथ युद्ध करना, उन्हें पराजित करना और इस कार्य के लिये यदि आवश्यक हो तो युद्ध करते हुए अपने शरीर की बलि दे देना, कायरतापूर्वक युद्ध-भूमि से पीठ दिखाकर न भागना।[1]

अर्जुन अपने क्षत्रिय धर्म का यथाशक्ति पूरी सच्चाई के साथ पालन करता रहा है और इसके लिए जहाँ तक उससे बन पड़ा उसने कोई भी बात उठाकर नहीं रक्खी है। परन्तु इस कुरुक्षेत्र युद्ध के अवसर पर उसके सामने कुछ ऐसी जटिल समस्या उपस्थित हुई है कि वह अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का, धर्म अधर्म का ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सका है।

---

१. क्षत्रियो हि प्रजा रक्षन् शस्त्रपाणिः प्रदण्डवान्।
निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥ (पराशर स्मृति)
समोत्तमाधमै राजा चाहूतः पालयन्प्रजा।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्मननुस्मरन्॥ (मनुस्मृति ७।८७)

अर्जुन के व्यक्तित्व और उसकी इस समस्या को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें पहले यह भलीभाँति जानना चाहिए कि अर्जुन क्यों युद्ध का परित्याग करना चाहता है। इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य क्यों, किस भावना से, किस फल के लिए, किस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए युद्ध किया करता है। कारण मूर्ख से मूर्ख मनुष्य थी, यदि पागल नहीं है तो बिना उद्देश्य के कर्म नहीं कर सकता :

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते

और कर्म करते समय जैसी अच्छी बुरी, उत्कृष्ट या निकृष्ट भावना उसके मन में होती है उसके अनुसार ही उसके आन्तारक और बाह्य जीवन का निर्माण होता है, वैसा ही वह मनुष्य होता है। युद्ध जैसा कर्म अनेक प्रकार की भावनाओं से किया जा सकता है, जैसे—आसुरिक तृप्ति के लिये, बदला लेने के लिये, अपने व्यक्तिगत सुख-भोग के लिये, अन्याय का दमन और न्याय की रक्षा के लिये इत्यादि।

जो मनुष्य प्रचण्ड कामनाओं के दास होते हैं, विषय सुख-भोग ही जिनके जीवन का सर्वस्व और एकमात्र लक्ष्य होता है, काम क्रोध का आश्रय लेकर जो अन्याय से धन का संग्रह करते हैं, मानो उनका जगत् में आना ही उसके क्षय के लिये है, ऐसे मनुष्य असुर कहलाते हैं।[१]

अर्जुन आर्य क्षत्रिय है। असहाय, दुर्बल और पीड़ितों की रक्षा करना उसका धर्म रहा है। अपने धर्म के शुद्ध भाव से पालन करने में उसने अनेक बार समस्त

---

२ काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ॥ १६।१० ॥
कामोपभोगपरमा एतावदित्ति निश्चिताः ॥ १६।११ ॥
आशापाशशत्तैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १६।१२ ॥
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ १६।९ ॥

सुखों का, यहाँ तक कि राज्य का भी परित्याग करके जंगलों में रहना स्वीकार किया है और अनेक प्रकार के भीषण कष्टों को सहर्ष सहन किया है । वह आसुरिक काम-क्रोध आदि का दास नहीं है । उसकी प्रकृति आसुरिक नहीं है अपितु सत्त्वोन्मुखी राजसिक है । अतः आसुरिक भावना की तृप्ति के लिये युद्ध में प्रवृत्त होना उसके लिये सम्भव नहीं है ।

अपने साधारण अपमान या हानि को दृष्टि में रखकर बदला लेने के लिये किये जाने वाले युद्ध और रक्तपात से राजाओं और मानव जाति का इतिहास भरा पड़ा है। अर्जुन के लिये इसकी सम्भावना बहुत अधिक है । कारण, उसके विपक्षियों ने उसपर और उसके घनिष्ठ सम्बन्धियों पर अनेक अमानुषिक अत्याचार किये हैं जिन्हें स्मरण करके कठोर से कठोर मनुष्य का हृदय भी विदीर्ण हुए विना नहीं रह सकता । उसके भाई भीम को विष देकर मारने का प्रयत्न किया गया; उन्हें लाख के घर में जलाने का षड्यन्त्र रचा गया; छल से जुए के द्वारा उनके राज्य का अपहरण किया गया; उनकी प्रियतमा महाराणी द्रौपदी को बाल पकड़कर खींचते हुए सभा में लाया गया और वहाँ नग्न करने का प्रयत्न किया गया; उन्हें तेरह वर्ष राज्य छोड़कर अनेक प्रकार के कष्ट सहने के लिये विवश किया गया; और इन समस्त अग्नि परीक्षाओं को पार कर लेने पर जब उन्होंने अपने न्याय-संगत राज्य को मांगा तो देने से मना कर दिया । युद्ध के समय अर्जुन इन अत्याचारों को भूला नहीं है । वह इन्हें आततायी, लोभोपहतचेतस, दुर्बुद्धि, मित्रद्रोही कहता है । आततायी वह होता है जो किसी निर्दोष को अग्नि से जलाने, विष देने, शस्त्र-प्रहार करके मारने का प्रयत्न करे, अन्याय से दूसरों के भूमि, धन, स्त्री आदि का अपहरण करे, स्त्रियों पर अत्याचार करे[1] । अर्जुन के विपक्षियों में ये सभी बातें विद्यमान हैं । ऐसे मनुष्यों के लिये मनुस्मृति में मृत्यु दण्ड का विधान किया गया है[2] ।

---

(१) अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेत आततायिनः ॥ (वसिष्ठ स्मृति)

(२) आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥८।३५० ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥ ८।३५१ ॥

ऐसी अवस्था में विपक्षियों के उन समस्त अत्याचारों को स्मरण करते हुए क्रोधवश उनसे बदला लेने के लिये युद्ध में प्रवृत्त होना अर्जुन के लिये अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु अर्जुन इस भावना से ऊपर उठ जाता है और अपने ऊपर अत्याचार करने वालों से युद्ध करके अत्याचारों का बदला लेने के बजाय उसके हृदय में उनके प्रति बन्धुत्व, स्वजन की भावना प्रबल हो जाती है । वह अपने और अपने ऊपर अत्याचार करने वालों के सुख और दुःख को समान समझने लगता है । वह यहाँतक तैयार हो जाता है कि यदि उसके विपक्षी रण में उसपर प्रहार करें तब भी वह कोई प्रतीकार न करेगा, बदला न लेगा :

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधवः ॥१।३७॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ १।४६ ॥

अतः बदला लेने की भावना भी उसे युद्ध में प्रवृत्त नहीं कर सकती ।

अपने सुख और भोग के लिये भी मनुष्य युद्ध किया करते हैं । यह साहंकार मनुष्य का प्राणिक लक्ष्य है । साहंकार मनुष्य प्राय अपने सुख या भोग की भावना से कर्म में प्रवृत्त हुआ करता है । अतः अर्जुन के लिये अपने सुख और भोग की भावना से युद्ध में प्रवृत्त होना सम्भव है । वह विजय और राज्य प्राप्त करने के लिए भी युद्ध कर सकता है । क्षत्रिय के लिए युद्ध में विजय प्राप्त करके अपने राज्य और यश की वृद्धि करना उसका धर्म माना गया है । यह क्षत्रिय का प्राणिक लक्ष्य है । परन्तु अर्जुन को इन दोनों में दोष दिखाई देता है । वह सोचता है कि ये वस्तुएँ केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिएप्राप्त करने योग्य नहीं हैं । इन्हें तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि अपने पितामह, आचार्य, मामा, श्वसुर, चचा, पुत्र, बन्धु, मित्र इस सुख, समृद्धि के भागी बन सकें । किन्तु इस युद्ध में तो इन सबकी हत्या हो जायगी । इनके अभाव में सुख-भोग भी कैसे सम्भव होगा और विशेषकर तब जबकि इनकी हत्या स्वयं अपने ही हाथ से होने वाली हो । ऐसा कौन नर-पिशाच होगा जो

स्वयं अपने हाथों से अपने परम पूज्य, परम श्रद्धेय, परम प्रिय व्यक्तियों की हत्या करके सुख भोग करना चाहेगा ? यह कार्य तो राक्षसी है, अपने पिता, पितामह, गुरु, भाई आदि की हत्या करके उनके रक्त और मांस का भक्षण करना जैसा है :

भूञ्जीय भोकान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥ २।५ ॥

अतः अर्जुन सुख, भोग, राज्य और विजय की भावनाओं से भी युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो सकता :

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राजं सुखानि च
किं नो राज्येन गोविन्द किं भौगैर्जीवितेन वा ॥ १।३२ ॥

अन्याय के दमन और न्याय की रक्षा को लक्ष्य में रखकर युद्ध करना क्षत्रिय का नैतिक धर्म है। पाण्डवों पर हुए अत्याचारों से यह अनुमान किया जा सकता है कि जिन मनुष्यों ने स्वयं अपने भाइयों पर इस प्रकार के अत्याचार किये हैं उन्होंने दूसरों पर कम अत्याचार नहीं किये होंगे। उन सब को दृष्टि में रखकर न्याय, धर्म और सदाचार की रक्षा के लिये युद्ध करना क्षत्रिय धर्म के अनुसार अर्जुन का कर्त्तव्य है। परन्तु इस अवसर पर अर्जुन को यह धर्म भी सदोष दिखाई देता है एक ओर जहाँ यह क्षत्रिय धर्म न्याय और सदाचार की रक्षा के लिये युद्ध को कर्त्तव्य बतलाता है दूसरी ओर वही धर्म अपने परम पूजनीय आचार्य, पितामह आदि की रक्षा और पूजा करने का भी आदेश देता है। परन्तु इस युद्ध में तो उनकी हत्या करनी पड़ेगी और गुरु-हत्या पितृ-हत्या जैसे घोर पाप का भागी बनना पड़ेगा। इसमें तो धर्म के बजाय उल्टा अधर्म ही होगा। यदि इस अधर्म की ओर से सर्वथा आंखें मींच ली जाय और प्रजा के न्याय और सदाचार की रक्षा पर ही दृष्टि रखी जाय तो इस उद्देश्य की पूर्ति भी इस युद्ध से होने की आशा नहीं है। कारण, कुल, जाति और देश के जो श्रेष्ठ, धार्मिक, सदाचारी वीर क्षत्रिय धर्म की रक्षा करने में समर्थ हैं, प्रायः वे सब तो युद्ध में ही उपस्थित हैं और युद्ध में मारे जायेंगे। युद्ध का आह्वान सुनकर भी अपने को क्षत्रिय कहने वाले जो मनुष्य यहाँ नहीं

आये वे कौन हैं ? वे प्रायः ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें अपने जीवन का मोह है, जो अपनी इन्द्रियों के विषय-भोगों में लिप्त हैं, जो कायर, दुराचारी और लोभी हैं, दूसरे शब्दों में जो सच्चे वीर आर्य क्षत्रिय नहीं हैं । श्रेष्ठ सदाचारी सच्चे वीरों के युद्ध में मारे जाने पर दूसरे निकृष्ट कोटि के कायर, विषयी, लोभी मनुष्यों के हाथों में राज्यसत्ता रहेगी । ऐसे मनुष्य न अपने ऊपर संयम रख सकेंगे और न प्रजा पर अत्याचार करने वाले दुष्टों का दमन करके धर्म की रक्षा कर सकेंगे । इसका परिणाम होगा—सर्वत्र चोरी, लूट, डाका, दुराचार, व्यभिचार । इससे कुल मर्यादा टूट जायगी, स्त्री-चरित्र कलुषित होगा, कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जायेगा । धर्म के स्थान पर अधर्म का प्रभुत्व होगा और इस सबका उत्तरदारित्व हमारे ऊपर होगा, हम ही पाप के भागी और नरकगामी होंगे । यह माना कि दोष दूसरे पक्षवालों का है, किन्तु उनकी बुद्धि लोभवश अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्माधर्म का विवेक करने में असमर्थ है (लोभोपहृतचेतसः) । इस कारण वे युद्ध में होने वाली हानि को देखने में असमथ हैं । हमें तो इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप कुल-धर्म और जाति-धर्म का विनाश स्पष्ट दिखाई दे रहा है । अज्ञानपूर्वक पाप करने वाला व्यक्ति कथंचित् अपने दोष के लिये क्षंतव्य हो सकता है, किन्तु ज्ञानपूर्वक करने वाला उसके उत्तरदायित्व से नहीं बच सकता । इस समय धर्म की रक्षा का केवल एक ही उपाय है, वह है हमारा युद्ध का परित्याग कर देना । यदि युद्ध के इन अनर्थ-कारी परिणामों को देखते हुये भी हम युद्ध का परित्याग नहीं करते तो केवल स्वार्थवश, राज्य-सुख के लोभ के कारण । धर्म और न्याय की रक्षा की दुहाई देना तो एक बहाना मात्र है, आत्म-वंचना है, वास्तव में यह महापाप है :

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्य सुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥१।४५॥

अर्जुन को इस अवसर पर अपना क्षत्रिय नैतिक धर्म भी अधर्म और पाप रूप जान पड़ता है । वह इसका परित्याग कर देता है और इसलिये इस भावना से युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो सकता ।

अर्जुन साहंकार त्रिगुणाधीन मनुष्य है। युद्ध के जो उद्देश्य उसके सामने आते हैं और जो परिणाम उसे दिखलाई देते हैं वे वहीं हैं जो कि एक साहंकार त्रिगुणाधीन मनुष्य के लिए सम्भव हैं। ये परिणाम उसे पहले ज्ञात न हों यह बात नहीं है किन्तु उसने अभी तक इनपर गहराई के साथ विचार नहीं किया था और न अपने अंतस्तम हृदय में, अपने प्राणों के, अपने जीवन के मर्म-स्थल में इनका अनुभव किया था। इस युद्ध के अवसर पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी सूक्ष्म शक्ति के प्रभाव से उन्हें उसके हृदय-पटल पर भली प्रकार अङ्कित कर दिया है। जिन निकृष्ट भावनाओं से साधारण मनुष्य युद्ध में प्रवृत्त हुआ करता है और जिनसे संभवत: अर्जुन भी अनेक बार अभी तक युद्ध करता रहा है, उन्हें और उनके दोषों को उसे गुप्त रूप में एक प्रकार की सूक्ष्म-दृष्टि प्रदान करके उसकी अन्तर्दृष्टि के सामने नग्न रूप में चित्रित कर दिया है। इस सबका उस पर यह प्रभाव होता है कि उसके अंगों में पीड़ा होने लगती है, मुख सूख जाता है, शरीर काँपने लगता है और रोमांचित हो जाता है, गांडीव धनुष हाथ से छूट जाता है, त्वचा में जलन होने लगती है, उससे वहाँ खड़ा नहीं रहा जाता, मन चक्कर खाने लगता है। ये परिणाम वही हैं जो कि एक साहंकार और त्रिगुणाधीन मनुष्य के लिये ऐसी परिस्थिति में संभव हैं। अत: अर्जुन अभी तक भी त्रिगुणाधीन और अहंकारबद्ध ही है। परन्तु अपने क्षत्रिय धर्म का यथाशक्ति शुद्ध भाव से पालन करते करते उसका अहंकार सात्विक हो गया है। अपने विकास-क्रम में और अपने सारथि भगवान् के प्रभाव से उसका अहंकार इतना सात्विक हो गया है कि जो वह केवल अपने स्वार्थ, सुख, कामना, विषय-भोग आदि में न फंसा रहकर धर्म, समाज और दूसरों के हित का भी विचार करता है। जिन उद्देश्यों से साधारण साहंकार और त्रिगुणाधीन मनुष्य युद्ध किया करते हैं वे उसे निकृष्ट, असंबद्ध, धर्म, कुल और समाज के लिये हानिकर और अधर्म-रूप प्रतीत होते हैं, इस कारण वह इनका परित्याग कर देता है। वह अहंकार-मुक्त और त्रिगुणातीत होना चाहता है। अब उसके सामने दो मार्ग हैं, प्रथम यह कि उसे अपने सम्पूर्ण व्यवहारिक जीवन, कर्म और संसार को दु:खमय जानकर इनका परित्याग कर देना चाहिए और संन्यास ग्रहण करके जंगलों में

तपोमय जीवन व्यतीत करना चाहिये । दूसरा मार्ग हैं युद्ध आदि कर्मों के किसी ऐसे उच्च उद्देश्य का, गहरे रहस्य का ज्ञान प्राप्त करना कि जिसके लिये युद्ध करने पर पाप की संभावना न हो । अर्जुन को अभी तक किसी ऐसे उद्देश्य या रहस्य का ज्ञान नहीं है, अतः वह पहले मार्ग का अवलम्बन करना चाहता है । (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके) । यही उसके युद्ध-परित्याग का मुख्य कारण है ।

इस समय उसके मन में अपने कर्त्तव्य सम्बन्धी अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक भावों में संघर्ष हो रहा है । वह यह निर्णय नहीं कर सका है कि उसका सच्चा धर्म या कर्त्तव्य इस परिस्थिति में क्या है ? वह धर्म-सङ्कट में पड़ा है और उसे अत्यन्त तीव्र शोक हो रहा है । वह शिष्य भाव से अपने सारथि भगवान् गुरु की शरण में जाता है और उनसे यह प्रार्थना करता है कि जिसमें मेरा श्रेयः हो वही मार्ग निश्चित रूप में मुझे बतलाइये :

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।

गीता के उपदेश का यही प्रसङ्ग है ।

गीतोपदेश की प्रासंगिकता

अर्जुन यद्यपि क्षत्रिय है । वह लौकिक, सामाजिक और राजनीति क्षेत्र में कार्य करने वाला कर्मशील मनुष्य है । शान्त एकान्त अरण्य में रहकर आत्मा, प्रकृति, परमात्मा जैसे गहन विषयों पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करने वाला तत्त्व-ज्ञानी या ऋषि नहीं है । उसने इस अवसर पर आत्मा और परमात्मा जैसे किसी सूक्ष्म विषय पर प्रश्न नहीं किया है और गीता में आगे भी जो प्रश्न उसने किये हें उनसे भी यही पता चलता है कि वह कोई गम्भीर तत्त्व-चिंतक नहीं है । उसने जो जिज्ञासा इस अवसर पर प्रकट की है वह स्थूल रूप में उसके युद्ध-रूप कर्त्तव्य कर्म से सम्बन्ध रखने वाली ही जान पड़ती है (यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः) । ऐसी स्थिति में स्वभावतः ऐसा प्रतीत होता है कि बिना जिज्ञासा किये युद्ध जैसी भीषण घटना के अवसर पर आत्मा, प्रकृति, ईश्वर, यज्ञ, भक्ति जैसे गम्भीर विषयों के उपदेश देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं

थी। अतः बहुत से मनुष्यों को युद्ध के अवसर पर इतने गम्भीर और वृहत् अध्यात्म ज्ञान का उपदेश अस्वाभाविक और अप्रासंगिक जान पड़ता है और इस कारण बहुत से मनुष्यों ने यह धारणा बनाली है कि गीता महाभारत का अङ्ग नहीं है, अपितु किसी कवि ने पीछे से उसमें मिला दी है। परन्तु अर्जुन की समस्या को ठीक प्रकार समझ लेने पर ये सब शङ्कायें निर्मूल हो जाती हैं।

पूर्वोक्त विवेचना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अर्जुन अपने विकास-क्रम में ऐसी परिस्थिति को पहुँच चुका है कि अपने ऊपर, भाई को विष देने, लाख के घर में जलाने का प्रयत्न करने, जुए में कपट से राज्य छीन लेने, तेरह वर्ष तक बनों में रहकर कष्ट सहने के लिये विवश करने जैसे अमानुषिक अत्याचार करने वालों के प्रति भी उसके हृदय में शत्रुत्व की भावना न होकर बन्धुत्व और स्वजन की भावना जागृत हो जाती है। वह राज्य छिन जाने पर सुख-भोग और विजय-कीर्ति के लिये उसे फिर प्राप्त करने का विचार नहीं करता। वह अपनी प्रियतमा के सभा में बाल पकड़ कर लाये जाने और नग्न करने के प्रयत्न करने जैसे घोर अपमान होने पर भी क्रोधवश बदला लेने का विचार नहीं करता और यह सब इस कारण नहीं कि वह युद्ध-भूमि में दूसरे पक्ष की सेना को अधिक शक्तिशाली समझ कर भयभीत हो गया है, उसमें कायरता आ गई है और वह शरीर के प्रति मोह होने के कारण युद्ध-भूमि से जान बचाकर भागना चाहता है। कारण, युद्ध के प्रारम्भ होते समय युधिष्ठिर से जो वचन उसने कहे हैं उनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसमें कायरता या भय लेश-मात्र भी नहीं है। उसे यह पूरा निश्चय है कि श्रीकृष्ण के सारथि होते हुए वह अकेला ही कौरवों की समस्त सेना का संहार कर सकता है[1]। उसे शरीर का मोह नहीं है। कारण गीता के वचन के अनुसार युद्ध में दूसरों को मारे बिना स्वयं मरने के लिए

---

१. हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् ॥
सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान्स्थावर जंगमान् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः ॥
महाभारत उद्योग १९४।१०,११॥

वह तैयार है[1]। उसे धर्म के आचार के सामान्य नियमों से वैराग्य है। उसे इतना तीव्र शोक हो रहा है कि समस्त भूमि के असपत्न राज्य की तो बात ही क्या देवताओं के राज्य के मिल जाने पर भी उसके दूर होने की आशा नहीं है। इस प्रकार के शोक की सच्ची निवृत्ति का केवल आत्म-ज्ञान ही उपाय है, जैसाकि शोक-ग्रस्त नारद जी आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की अभीप्सा से सनत्कुमार ऋषि से कहते हैं :

तरति शोकमात्मवित् (छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२)

इससे पता चलता है कि अर्जुन की समस्या उसकी अन्तस्तम सत्ता से उत्पन्न हुई है। श्रद्धाभक्ति-पूर्वक शास्त्रानुकूल कर्म करते करते साहंकार त्रिगुणाधीन मनुष्य के लिये कभी न कभी जीवन में ऐसा अवसर अवश्य आता है कि जब उसे समस्त धर्म और नियम बन्धन रूप प्रतीत होने लगते हैं। वह इन सब से विरक्त होकर इनसे ऊपर उठना चाहता है। वह अहंकार-मुक्त और त्रिगुणातीत होना और आत्मा, परमात्मा-रूप परश्रेय को प्राप्त करना चाहता है। वह समस्त व्यावहारिक जीवन और कर्मों का संन्यास करके एकान्त अरण्य में जाकर अपने उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधना करना चाहता है और यदि कर्मयोग के द्वारा यह लक्ष्य प्राप्त हो सकता हो तो उस कर्मयोग को, कर्म के गहरे रहस्य को जानना चाहता है। अर्जुन की यही स्थिति है। उसकी समस्या स्थूल, व्यावहारिक, संवेदनात्मक, आवेगात्मा या बौद्धिक नहीं है, यद्यपि उसे जागृति इन ही भावों के द्वारा होती है। उसकी समस्या अत्यन्त गहरी और आध्यात्मिक है। श्रीकृष्ण योगिराज और अन्तर्यामी भगवान् होने के कारण उसे ठीक ठीक पहचानते हैं और जैसा रोग है उसके अनुसार ही औषध देते हैं। इसलिए जिससे अर्जुन का शोक सच्चे रूप में निवृत्त हो जाय और जिसमें उस का सच्चा श्रेयः है उस आत्म-ज्ञान से ही गीता का प्रारम्भ होता है। और जिस प्रकार संन्यास और ज्ञान-योग के द्वारा उस आत्म-तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है इसी प्रकार, गीता यह दिखलाना चाहती है कि कर्मयोग के द्वारा भी उसे प्राप्त किया जा सकता है। अतः आत्म-ज्ञान का

---

१. मामप्रतिकारमशस्त्रं, रणे हन्युः (१।४६)।

सांख्य शास्त्र के अनुसार प्रारम्भिक उपदेश देकर फिर भगवान् गुरु उसे कर्म करने की ऐसी विधि बतलाते हैं, ऐसे कर्मयोग का उपदेश देते हैं कि जिसके अनुसार कर्म करने पर उसके समस्त कर्म न केवल यही कि वे प्रतिकूल फल देने वाले और बन्धन रूप नहीं होंगे अपितु आत्मा और परमात्मा की प्राप्तिरूप परंश्रेय का साधन हो जायंगे। वह कर्मयोग संक्षेप में इस प्रकार है: फल की कामना का त्याग करके, अनासक्त होकर, कर्त्तव्य-भाव से, सम-बुद्धि होकर, भक्ति-पूर्वक, भगवदर्पण भाव से यज्ञ रूप में कर्म करना। इसकी व्याख्या के लिए उन्हें कर्म, भक्ति और यज्ञ के स्वरूप का, जिस भगवान् को कर्म अर्पण किये जाते हैं उसके स्वरूप का और जिस जगत् और जीवों से मनुष्य का सम्बन्ध है उनके स्वरूपों का संक्षेप में प्रतिपादन करना आवश्यक हुआ और उसके संशय की पूरी तरह निवृत्ति करने के लिये प्रार्थना किये जाने पर दिव्यदृष्टि प्रदान करके अपने दिव्य विराट् स्वरूप का भी उसे दर्शन कराना आवश्यक हुआ। इस प्रकार अर्जुन की परिस्थिति और गम्भीर समस्या के अनुसार गीता के उपदेश का स्वाभाविक रूप में विकास होता स्पष्ट दिखलाई देता है। अतः उसमें लेशमात्र भी अस्वाभाविकता या अप्रासंगिकता नहीं है।

उत्तम अधिकारी

गीता के कुछ टीकाकार उसके कुछ श्लोकों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि यह ज्ञानमार्ग और संन्यासमार्ग का प्रतिपादक ग्रन्थ है और गीता इन्हें ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग मानती है। उनकी दृष्टि से गीता में जो कर्मयोग का प्रतिपादन हुआ है वह उसका मुख्य और श्रेष्ठतम ज्ञान नहीं है अपितु गौण और मध्यम श्रेणी[1] का है और गीता में उसका समावेश केवल इस कारण हुआ है क्योंकि उसका उपदेश अर्जुन को हुआ है जो कि क्षत्रिय था और इसलिए मध्यम श्रेणी का अधिकारी था।

निःसन्देह गीता ने कर्म के स्वरूपतः परित्याग-रूप कर्म-संन्यास को भी मोक्ष का एक मार्ग माना है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह कर्मयोग को कर्मसंन्यास से निकृष्ट मानती है। इसकी अपेक्षा दूसरे पक्ष में अधिक प्रबल

---

१ अज्ञानामेव हि कर्मयोगो न ज्ञानिनाम्॥ शांकर भाष्य ३।५॥

प्रमाण मिलते हैं जिनकी विवेचना अगले प्रकरणों में की गई है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि गीता में जिस कर्मयोग का दूसरे और तीसरे अध्यायों में प्रतिपादन किया गया है उसे उसने चौथे अध्याय में उत्तम रहस्य कहा है। यह वह योग है जिसका अनुष्ठान विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि क्षत्रिय राजाओं के द्वारा हुआ है। इसे ही आगे अठारहवें अध्याय में "गुह्याद् गुह्यतर" और "सर्व गुह्यतम" कहा है। इसमें भगवान् की शरण ग्रहण करना और उनके लिए भक्ति-पूर्वक यज्ञादि कर्म करना भी अन्तर्गत है[1]। यदि भगवान् की दृष्टि में कर्म-परित्याग रूप कर्म-संन्यास ही सर्वश्रेष्ठ होता और कर्मयोग इसकी अपेक्षा निकृष्ट श्रेणी का होता तो इसके लिये "उत्तम रहस्य", "गुह्याद्गुह्यतर", "सर्व गुह्यतम" आदि शब्दों का प्रयोग संभव नहीं था।

निःसंदेह अर्जुन क्षत्रिय है और उसे जो वैराग्य हुआ है उसमें मोह और तमोगुण का अंश है। किन्तु इतने से ही उसे मध्यम श्रेणी का अधिकारी मानकर संन्यास से वंचित नहीं किया जा सकता, यदि कर्म का सर्वथा परित्याग-रूप संन्यास ही सर्वश्रेष्ठ हो और "सर्व गुह्यतम रहस्य" हो। मनुष्य की सत्ता के अनेक अंग होते हैं। सभी अंग सभी जीवनों में समान रूप से विकसित नहीं होते। एक जीवन में एक ही प्रकार का चरित्र अपने पूर्व कर्मों के अनुसार भगवदिच्छा से व्यक्त होता है। किसी मनुष्य का बाहरी जीवन बाह्य दृष्टि से देखने में अच्छा प्रतीत होता है किन्तु भीतरी भाग भली-भाँति विकसित नहीं होता। कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं कि जिनका आन्तरिक भाग बहुत अधिक विकसित होता है किन्तु उनके बाहरी जीवन में कुछ दोष जो कि कभी कभी बहुत उग्र रूप धारण कर सकते हैं, बने रहते हैं और उसके भीतरी भाग को

---

१ तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ॥ १८।६२ ॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ॥१८।६३ ॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ॥ १८।६४ ॥
मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥ १८।६५ ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥ १८।६७ ॥

ढके रहते हैं। कभी कभी भगवान् कुछ उच्च कोटि के महापुरुषों को भी अपनी वैष्णवी माया के आवरण से ढककर कुछ महान् कार्य कराने के लिए पृथ्वी पर भेजा करते हैं और वह आवरण कभी कभी इतना स्थूल और भद्दा भी हो सकता है कि जिसके कारण स्थूल दृष्टि में वह मनुष्य साधारण मनुष्य जैसा और निकृष्ट कोटि का जान पड़ता है। ऐसी स्थिति में जीवन की कोई आकस्मिक घटना या किसी महात्मा या गुरु का उपदेश या प्रभाव निमित्त बनकर उस आवरण को भग्न कर देता है और उस व्यक्ति का सच्चा भीतरी स्वरूप जगमगाने लगता है। ध्रुव, वाल्मीकि, भर्तृहरि, तुलसीदास आदि महात्मा इसी कोटि के व्यक्ति थे। ध्रुव के वैराग्य में सौतेली माता से उसका अपमान निमित्त था। वाल्मीकि लुटेरे थे और एक महात्मा के उपदेश से प्रभावित होकर महर्षि बन गये। भर्तृहरि स्त्री के प्रेम में दीवाने थे और उसके चरित्र में त्रुटि देखकर विरक्त हो गये। तुलसीदास स्त्री लम्पट थे और उसके द्वारा तिरस्कृत होकर विरक्त हुये। इसी प्रकार अर्जुन के लिये भी उसका बन्धु-मोह से मिला वैराग्य उसके संन्यास का कारण हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, अर्जुन देवराज इन्द्र का अंश बतलाया गया है; दिव्य धनुष, दिव्य तर्कश, दिव्य रथ, दिव्य पताका उसके पास हैं, जिन्हें देवताओं ने अपना महान् दिव्य कर्म कराने के लिये प्रसाद रूप में उसे दिये हैं। दैवी संपत् में उसका जन्म हुआ है। वह नर नारायण इन दो अवतारों में नर का अवतार माना जाता है। स्वयं षोडशकलापूर्ण भगवान् उसके सारथी हैं और वे उसे अपना अत्यन्त प्रिय सखा और भक्त मानते हैं। उनके लिये अपने अत्यन्त प्रिय सखा और भक्त को कुछ भी अदेय नहीं है। इसी कारण उन्होंने उसे दिव्यदृष्टि प्रदान करके अपने उस विश्व रूप का दर्शन कराया है जो कि देवताओं के लिये भी दुर्लभ है और जो सबसे पहले[1] अर्जुन को ही दिखाया गया है (यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्)। ऐसी स्थिति में यदि भगवान् की दृष्टि में कर्मयोग की अपेक्षा कर्म-संन्यास ही श्रेष्ठ और सर्व गुह्यतम रहस्य होता तो प्रारम्भ से ही अपनी दिव्य दृष्टि और दिव्यशक्ति के प्रभाव से अर्जुन के

---

१. सम्भवतः पृथिवी पर और इस कल्प में—लेखक।

तम और मोह को नष्ट करके, उसके वैराग्य को शुद्ध सात्विक बनाकर उसे सर्वकर्म-संन्यास का ही उपदेश देना चाहिये था। अथवा उपदेश के अन्त में जिस समय उनके प्रसाद से उसका मोह नष्ट हो जाता है[1] तो उस समय यह कह देना चाहिये था कि "अभी तक जो मैंने तुम्हें युद्ध करने का उपदेश दिया है वह इस कारण क्योंकि तुम में मोह का अंश था। अब चूंकि तुम्हारा मोह नष्ट हो गया है अतः मैं तुम्हें सर्व-कर्म-परित्याग रूप कर्म-संन्यास का ही उपदेश देता हूँ, यही श्रेष्ठतम और सर्व गुह्यतम रहस्य है"। परन्तु वे ऐसा कुछ भी नहीं करते अपितु इसके विपरीत उसे कर्म करने का ही आदेश देते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस कर्मयोग का अर्जुन को उपदेश दिया गया है वही गीता का श्रेष्ठतम ज्ञान और सर्वगुह्यतम रहस्य है और इसका संन्यास से विरोध नहीं है अपितु सामञ्जस्य है और अर्जुन इसका मध्यम अधिकारी नहीं है अपितु उत्तम अधिकारी है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि अर्जुन अपने समय के महापुरुषों में सभी गुणों में सर्वश्रेष्ठ नहीं था। अध्यात्मज्ञान में व्यास उससे श्रेष्ठ थे, अपने युग के लौकिक ज्ञान में भीष्मपितामह श्रेष्ठ थे, ज्ञान-पिपासा में धृतराष्ट्र और विदुर श्रेष्ठ थे, साधुता और सात्त्विक गुण में धर्मपुत्र युधिष्ठिर श्रेष्ठ थे, भक्ति में उद्धव और अक्रूर श्रेष्ठ थे। तब फिर क्यों भगवान् ने उसे ही अपने उत्तम रहस्य का, सर्व गुह्यतम ज्ञान का पात्र चुना? उसमें कौनसे ऐसे गुण थे जिनके कारण उसे इस दिव्य ज्ञान का उत्तम अधिकारी माना गया?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अर्जुन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण गुण था भगवान् में पूरी श्रद्धा और उनके प्रति आत्म-समर्पण का प्रयत्न। श्री अरविन्द ने बतलाया है कि "जो व्यक्ति भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखते हुये अपने शुभ अशुभ, मङ्गल अमङ्गल, पाप और पुण्य का सम्पूर्ण भार उनके ही ऊपर डाल देते हैं, उनसे कुछ भी न मांगकर जो कुछ भी उनसे प्रसाद रूप में मिलता है उसे सहर्ष स्वीकार करके उनके कार्य में, उनकी सेवा में उसका उपयोग करते हैं, ऐसे

---

१. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ॥१८।७३॥

श्रद्धावान्, निरहङ्कार कर्मयोगी, भगवान् पुरुषोत्तम के प्रियतम सखा और उनकी शक्ति के उत्तम पात्र होते हैं और उनके ही द्वारा जगत् के महान् कार्य उत्तम रीति से सम्पन्न होते हैं। अर्जुन इस प्रकार करने के लिये सर्वदा प्रयत्नशील था। उसका यही विशेष गुण श्रीकृष्ण के प्रेम और प्रसाद का कारण था*।"

उपसंहार

गीता के उपदेश देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव देह धारण करके दिव्य भाव में स्थित होकर राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक आदि समस्त मानव क्षेत्रों में विविध प्रकार के कर्म किए हैं और अपने मानव जीवन के द्वारा दिव्य कर्म और दिव्य जीवन का आदर्श उपस्थित किया है। गीता इस आदर्श का मूर्त रूप है। अर्जुन इसका उत्तम अधिकारी है।

अध्यात्म-ज्ञान के अधिकारी में समस्त लौकिक धर्मों और लौकिक एवं पारलौकिक विषयों के प्रति वैराग्य आवश्यक माना जाता है। संन्यास योग में इन सबका स्थूल रूप में परित्याग करना होता है। अर्जुन इसके लिए तैयार है। परन्तु भगवान् उसे ऐसा करने से मना करते हैं। वे गीता के सर्व गुह्यतम रहस्य के लिये जिस परित्याग को आवश्यक समझते हैं वह बाह्य होने की अपेक्षा आन्तरिक है। यहाँ इनसे आन्तरिक रूप में अतीत होना होता है। गीता ने इसे अठारहवें अध्याय में त्याग कहा है। क्षत्रिय के लिए जो विजय प्राप्त करना, विजय प्राप्त करके अपनी कीर्ति को फैलाना, राज्य और सुख का भोग करना आदि धर्म बतलाये गये हैं, उनके प्रति अर्जुन को वैराग्य है। अतः वह इनका परित्याग कर देता है। परन्तु अपने पूजनीय पितामह, आचार्य आदि की पूजा और रक्षा करना, अपने बन्धु-बान्धव और मित्रों से प्रेम करना और उनका रक्षा करना भी क्षत्रिय का धर्म है। अर्जुन अभी तक इसका परित्याग नहीं कर सका है। वह इनके मोह में, धर्म-मोह में फंसा है। भगवान् ने उसे इन समस्त सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक धर्मों से अतीत होने का आदेश दिया है।

---

*गीता की भूमिका।

इसके अनन्तर उसे भगवान् की शरण ग्रहण करने का आदेश दिया है। गीता के अन्त में अपने सम्पूर्ण उपदेश का सार बतलाते हुए भगवान् ने अपने सर्व-गुह्यतम ज्ञान के अधिकारी में दो गुण विशेष रूप में बतलाये हैं—समस्त धर्मों का परित्याग और एकमात्र भगवान् की शरण ग्रहण करना। गीता के पहले अध्याय में जो अर्जुन को विषाद होता है उसमें भी उसके भीतर ये दो गुण प्रमुख रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इन कारणों से भगवान् ने अर्जुन को गीता का उत्तम अधिकारी मानकर उसका उपदेश दिया है। अतः गीता के अधिकारो में मुख्यतया दो गुण होने चाहिएँ :

(१) समस्त धर्मों का परित्याग (आन्तरिक त्याग) :

(२) एकमात्र भगवान् की शरण ग्रहण करना :
"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"

तीसरा परिच्छेद

गीतोपाख्यान का तात्पर्य

गीता ने कुरुक्षेत्र युद्ध में श्रीकृष्ण को सारथि और अर्जुन को रथी कहा है। इसका एक आन्तरिक अर्थ भी है। इसका संकेत हमें वेद से मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ऐसा वर्णन मिलता है कि इन्द्र और कुत्स एक रथ पर बैठकर युद्ध करते हुए एक दिव्य लोक को जाते हैं। इस लोक के स्वामी इन्द्र हैं, अतः इसका नाम इन्द्रलोक है। यह वर्णन आलंकारिक है, रूपक है। यहाँ इन्द्र से तात्पर्य है दिव्य ज्ञान की शक्ति जोकि सत्य, प्रकाश, अमृतत्व को प्राप्त करने का प्रयास करने वाले और इन्हें प्राप्त करने के लिये असत्य, अन्धकार, परिच्छिन्नता एवं मृत्यु के पुत्रों के साथ युद्ध करने वाले मानव आत्मा की सहायता के लिए अवतीर्ण होती है। युद्ध उन असत्य आदि आन्तरिक, आध्यात्मिक शत्रुओं के साथ है जो कि हमारी सत्ता के उच्चतर लोक का मार्ग रोके हुए हैं। कुत्स मानव आत्मा है। उसका नाम आर्जुनि भी है। आर्जुनि का अर्थ है धवल, श्वेत, स्वच्छ, शुद्ध। वह श्वित्रा या श्वेत माता का पुत्र है। श्वेत माता से तात्पर्य यहाँ शुद्ध प्रकृति से है और उसके पुत्र से तात्पर्य अन्तःकरण से है। अतः आर्जुनि, श्वित्रा के पुत्र से तात्पर्य है वह मानव आत्मा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है और जो दिव्य ज्ञान का अधिकारी हो गया है और इसके लिए प्रयास कर रहा है। गन्तव्य स्थान वह बृहत् लोक है जो परम सत्य, दिव्य ज्योति से प्रकाशमान है, जहाँ आत्मा की अमरता है, जिसका स्वामी स्वयं इन्द्र है। जब रथ अपने गन्तव्य स्थान पर, अर्थात् इन्द्रलोक में पहुँचता है तो मानव आत्मा (कुत्स) अपने सखा इन्द्र के इतना अधिक सदृश हो जाता है कि इन्द्र की अर्धाङ्गिनी शची ही उसे पहिचान पाती है। यहाँ शची से तात्पर्य है सत्यचेतना (ऋत-चित्)। इसका तात्पर्य यह है कि मानव आत्मा जैसे जैसे ज्ञान को प्राप्त करता जाता हैं वैसे वैसे वह भगवान् के सादृश्य को प्राप्त करता जाता है (मम साधर्म्यमागताः)।

यह रूपक स्पष्ट ही मानव आत्मा की आन्तरिक ज्ञान-साधना का है।

इस रूपक के प्रकाश में गीता के उपाख्यान को देखने से ज्ञात होता है कि गीता के उपदेश देने वाले श्रीकृष्ण से तात्पर्य है मनुष्य-मात्र के हृदय में स्थित रहने वाले (सर्वभूताशयस्थितः) भगवान् जोकि अपने ज्ञान-रूपी दीपक से भीतर के अज्ञान-अन्धकार का विनाश करते हैं, आत्मा को दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं और उसे अपने ज्योतिर्मय धाम को प्राप्त कराते हैं[1]। अर्जुन वह मानव-आत्मा है जिसे अभीतक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है परन्तु जो अपने अतःकरण के शुद्ध हो जाने के कारण और भगवान् के सान्निध्य से उसका अधिकारी हो गया है और उसके लिए प्रयास कर रहा है। वह इस कार्य में बाधा डालने वाले अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भीतरी शत्रुओं से युद्ध कर रहा है जिसमें उसे भगवान् सहायता प्रदान करते हैं। यहाँ दुर्योधनादि शत्रु ये काम, क्रोध आदि अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही हैं।

यह गीतोपाख्यान का आन्तरिक तात्पर्य है और गीता के कुछ पाठक इसे इसी रूप में लेते हैं। परन्तु गीतोपाख्यान में और वैदिक वर्णन में कुछ भेद हैं। उस भेद को दृष्टि में रखते हुये इस उपाख्यान का तात्पर्य निकालना चाहिये। अन्यथा, गीतोपाख्यान को केवल आंतरिक ज्ञान का रूपक मानने पर सम्पूर्ण महाभारत युद्ध और श्रीकृष्ण अर्जुनादि उसके पात्र तथा गीता का उपदेश कवि की कल्पना-सृष्टि-मात्र रह जाते हैं और जिस मुख्य उद्देश्य को सामने रखते हुये गीता का उपदेश हुआ है वह नष्ट हो जाता है।

वैदिक उपाख्यान से गीतोपाख्यान में पहला भेद यह है कि वेद में वर्णित इन्द्र और कुत्स कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं और उनका युद्ध भी कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है। यह केवल आन्तरिक ज्ञान-साधना का रूपकमात्र है। परन्तु गीतोपाख्यान के श्रीकृष्ण, अर्जुन आदि पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और कुरुक्षेत्र

---

१. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥१०।११॥
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥८।२१॥
ज्योतिषामपि तज्जयोतिः तमसः परमुच्यते ॥१३।१७॥

युद्ध, अर्जुन की समस्या और उसे दिया गया गीता-रूपी उपदेश ऐतिहासिक घटनायें हैं। इसके समर्थन में अनेक प्रबल प्रमाण मिलते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (३।१९।६) में देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण ऐसा उल्लेख आता है। वहाँ उन्हें ब्रह्मज्ञानी के रूप में उपस्थित किया गया है। इसके अतिरिक्त पाणिनीय व्याकरण में एक सूत्र आता है "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्"। इसका अर्थ है जिसकी वासुदेव में भक्ति हो वह वासुदेवक और जिसकी अर्जुन में भक्ति हो वह आर्जुनक होता है। इससे ज्ञात होता है कि पाणिनी के समय से काफी पहले से भारत में श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति प्रचलित थी और यह भक्ति किसी धार्मिक और दार्शनिक परम्परा के कारण ही हो सकती है। इससे यह भी माना जा सकता है कि इस परम्परा से ही गीता ने अपने सिद्धान्तों को लिया होगा और सम्भवतः श्रीकृष्ण ही इसके प्रवर्त्तक होंगे। इसलिये यह मानना सर्वथा युक्ति-युक्त है कि गीता में वर्णित श्रीकृष्ण और अर्जुन आदि पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और कुरुक्षेत्र युद्ध और उसमें दिया हुआ गीता-रूपी उपदेश भी ऐतिहासिक घटनायें हैं[1]।

गीता के उपदेश में वैदिक उपाख्यान से दूसरा भेद यह है कि वैदिक वर्णन में केवल आन्तरिक आध्यात्मिक ज्ञान लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए ऋषिगण शान्त एकान्त अरण्य में रहते हुए कठोर तप किया करते हैं। परन्तु गीता में मुख्यतया कर्मों पर बल दिया गया है। इसमें कर्मों के करने की ऐसी विधि बतलाई गई है कि जिसके अनुसार कर्म करने पर व्यावहारिक जीवन के साधारण से साधारण कर्म, यहाँ तक कि खाना पीना, दान देना आदि कर्म भी आत्म-ज्ञान और भगवान् की प्राप्ति के साधन बन जाते हैं:

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।।३।२०।।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।३।१९।।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यति कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम् ।।९।२७।।

---

१. इस विषय का सविस्तर प्रतिपादन आगे "अवतार की प्रामाणिकता" शीर्षक परिच्छेद में किया गया है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ ९।२८ ॥

इसलिए गीता ने अर्जुन को ज्ञान प्राप्ति के लिए इन्हीं कर्मों के करने का आदेश दिया है :

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥४।१५॥

गीता ज्ञानी को भी लोक-संग्रहार्थ कर्म करने का आदेश देती है :

लोक संग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३।२०॥
सर्वभूतहिते रताः ॥५।२५॥

गीतोपदेश को केवल आन्तरिक ज्ञान का रूपक और कवि की कल्पना-सृष्टि मान लेने पर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि गीता में जो यह कहा गया है कि विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि ने अपने जीवन में अनुष्ठान करके इस कर्म-योग के द्वारा सिद्धि को प्राप्त किया, यह सब भी कवि की कल्पनामात्र है। इससे हमारे मन में ये धारणा उत्पन्न होगी कि आज तक साधारण कर्मों के द्वारा आत्म-ज्ञान और भगवत्प्राप्ति किसी ने नहीं की है तो भविष्य में भी कैसे हो सकेगी ? आत्म-ज्ञान प्राप्ति का एकमात्र अथवा श्रेष्ठतम मार्ग केवल संन्यास ग्रहण करके शान्त एकान्त अरण्य में रहकर तप करना है। जब हम यह मान लेंगे कि युद्ध के अवसर पर गीता ने जो अर्जुन की समस्या का प्रदर्शन और समाधान किया है वह सब कवि की कल्पनामात्र है, तो हमें यह भी विश्वास हो जायगा कि इस प्रकार की समस्यायें मानव जीवन में उपस्थित नहीं होतीं। उस समय श्री अरविन्द के शब्दों में, "गीता का धर्म (मनु० इक्ष्वाकु, जनक, अर्जुन आदि) वीरों का धर्म, संसार में आचरण करने योग्य धर्म नहीं रह जायगा, अपितु वह संसार के लिए अनुपयोगी शान्त संन्यास धर्म में परिणत हो जायगा[1]।

महाभारत को केवल कवि की कल्पना-सृष्टि और गीतोपाख्यान को केवल

१. गीता की भूमिका पृष्ठ ६

रूपक मानने वाले इस विषय में यह कह सकते हैं कि उनके ऐसा मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि ऐसी समस्यायें मानव जीवन में उपस्थित नहीं हो सकतीं या गीता के कर्मयोग के द्वारा आत्म-ज्ञान या भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता। यहाँ केवल उनकी ऐतिहासिकता का खण्डन किया जाता है। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि ऐसी समस्यायें मानव जीवन में उपस्थित हो सकती हैं और गीता उनका समाधान करती है तो किसी विरोधी उचित प्रमाण के अभाव में यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि अर्जुन भी एक ऐसा व्यक्ति हो चुका है जिसके सामने यह समस्या उपस्थित हुई थी और जिसका गीता ने समाधान किया है और विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि ऐसे ऐतिहासिक व्यक्ति हो चुके हैं जिन्होंने इस कर्मयोग के द्वारा अपने व्यावहारिक जीवन की समस्याओं को सुलझाया और आत्म-ज्ञान और भगवान् को प्राप्त किया था।

महाभारत को कवि की कल्पना सृष्टि और गीतोपाख्यान को केवल रूपक मानने वाले ऐसे व्यक्ति हैं जो शस्त्रास्त्रों के युद्ध को श्रेष्ठ मनुष्यों का कार्य नहीं मानते अपितु निकृष्ट कोटि के मनुष्यों का मानते हैं और इसलिए उन्हें निकृष्ट कोटि के व्यक्तियों में युद्ध के अवसर पर ऐसी समस्या का उत्पन्न होना और उनके द्वारा इतने उच्च कोटि के दार्शनिक ज्ञान का उपदेश असंगत जान पड़ता है। परन्तु इस धारणा का सम्पूर्ण गीता विरोध करती है। वह युद्ध को श्रेष्ठ मनुष्यों का धर्म मानती है और उनके करने वालों को आर्य या श्रेष्ठ मानती है।

इसलिये इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुये व्यापक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि गीता के श्रीकृष्ण केवल ऐसे भगवान् नहीं हैं जो कि मनुष्यों के हृदय में स्थित रहकर ज्ञान का प्रकाश देते हैं अपितु ऐसे भगवान् भी हैं जो कि पर्दे के पीछे से प्रकट होकर मानव जीवन के समस्त कर्मों का पथ-प्रदर्शन, संचालन और नेतृत्व करते हैं और उन्हें अनुष्ठान करने की शक्ति भी प्रदान करते हैं। इसका अधिकारी केवल वह व्यक्ति नहीं है जो कि शान्त एकान्त अरण्य में रहता हुआ तप करता है—यद्यपि गीता इसका बहिष्कार नहीं करती—

अपितु ऐसा व्यक्ति भी है जो कि मानव जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि समस्त व्यावहारिक क्षेत्रों में कार्य करने वाला है। यहाँ ज्ञान का उपदेश शान्त एकान्त अरण्य नहीं होता अपितु शस्त्रास्त्रों की खनखनापट, शंख, भेरी आदि के गगनभेदी निनाद, हाथियों की चिंघाड़, घोड़ों की हिनहिनाहट के बीच युद्ध के भीषण उत्तेजनात्मक वातावरण में होता है। यहाँ युद्ध केवल काम, क्रोधा आदि आन्तरिक शत्रुओं के साथ नहीं है अपितु लाखों वीर क्षत्रियों और महारथियों के साथ हैं जिनमें अनेक ऐसे है कि जो यह कहने का साहस और अधिकार रखते हैं कि शस्त्र हाथ में रहते उन्हें पृथ्वी पर कोई भी पराजित नहीं कर सकता। उपदेश के देने वाले श्रीकृष्ण स्वयं कर्मवीर, महा पराक्रमी, महा वीर, महा-योद्धा, महारथी हैं जिन्होंने अपने जीवन में लाखों वीरों के साथ युद्ध करके उनका संहार किया है और विजय प्राप्त की है। उपदेश का ग्रहण करने वाला शिष्य भी पृथ्वी के श्रेष्ठतम वीरों में से है जिसने अपने जीवन में लाखों करोड़ों मनुष्यों का संहार किया है। अतः एक योद्धा के द्वारा दूसरे योद्धा को युद्ध के अवसर पर दिया हुआ गीता का उपदेश यह भी संकेत करता है कि यह मानव जीवन एक प्रकार का युद्धक्षेत्र या कुरूक्षेत्र है जिसमें दैवी और आसुरी शक्तियाँ एक दूसरी पर विजय प्राप्त करने के लिये युद्ध किया करती हैं और गीता का सच्चा अधिकारी भगवत्प्राप्ति या लोक संग्रह के लिए इस युद्ध में भाग लेता है, यद्यपि युद्ध का रूप देश, काल और अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों के अनुसार भिन्न भिन्न हो सकता है :

"मामनुस्मर युध्य च"

चौथा परिच्छेद

सिद्धान्त सार

गीता में सांख्य, योग और वेदान्त, ज्ञान, कर्म और भक्ति सम्बन्धी अनेक प्रकार के दार्शनिक, आध्यात्मिक और नैतिक भावों का विचित्र चक्रात्मक गति में वर्णन किया गया है। परन्तु भाषा बहुत सरल हैं। इस कारण अन्य धर्म-ग्रन्थों की अपेक्षा इसमें वह विचित्रता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी रुचि और पूर्व-धारणा के अनुसार इसके कुछ विशेष वचनों को अत्यधिक महत्त्व देकर और शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ को गौण मानकर इसे अपने संकीर्ण मत का प्रतिपादक मान सकता है। यही कारण है कि जो गीता पर अनेक विद्वानों की एक दूसरी से बहुत भिन्न व्याख्यायें मिलती हैं। अतः गीता के सिद्धान्तों की सविस्तर व्याख्या करने से पहले यह अच्छा होगा कि हम इसके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का श्री अरविन्द की व्याख्या के अनुसार संक्षेप में दिग्दर्शन करादें जिससे कि सम्पूर्ण ग्रन्थ को एक दृष्टि में देखा जा सके और इसके भावों को समझने में सरलता हो जाय।

गीता एक योग का ग्रन्थ है। वह योग जिन दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर प्रतिष्ठित है वह सांख्य, योग और वेदान्त का समन्वय है। प्रचलित सांख्य में पुरुष और प्रकृति दो मूलतत्त्व माने जाते हैं। पुरुष चेतन और निष्क्रिय है, प्रकृति जड़ और सक्रिय है। पुरुष एक नहीं है अपितु बहु हैं। पुरुष अविवेकवश प्रकृति के विकारों का प्रतिविम्ब ग्रहण करता है और सुख, दुख मोह आदि का अनुभव करता हुआ अपने-आपको प्रकृति के बन्धन में समझता है। जब उसे अपने और प्रकृति के स्वरूप का विवेक ज्ञान (विवेक-ख्याति) हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है। योगदर्शन सांख्य के इस सिद्धान्त क

स्वीकार करते हुए ईश्वर की सत्ता को भी मानता है। परन्तु योग में ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी निष्क्रिय है। शांकर वेदान्त या मायावाद में कूटस्थ अक्षर निष्क्रिय ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ तत्व है और समस्त संसार मिथ्या है। गीता में पुरुषोत्तम को एकमात्र परमार्थ तत्त्व माना गया है और इसे ईश्वर, परमात्मा, परमपुरुष, वासुदेव कहा गया है। इसकी पराशक्ति का नाम गीता में पराप्रकृति है। यह पराप्रकृति पुरुषोत्तम के आदेश और प्रेरणा के अनुसार एक ओर बहुविध जीवों का रूप धारण करती है (जीवभूतां) और दूसरी ओर सांख्यों की अपरा प्रकृति का। प्रकृतिस्थ जीव, अपरा प्रकृति और इसके समस्त विकार क्षर पुरुष कहलाते हैं। पुरुषोत्तम का ही एक रूप अक्षर ब्रह्म है जो कि समस्त विकारों में निर्विकार बना रहता है। इस प्रकार गीता में मूलतत्त्व एकमात्र पुरुषोत्तम होते हुये भी उसके तीन रूप हैं—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम। गीता का यह पुरुषत्रय का सिद्धान्त ही उसके ज्ञान, कर्म और भक्ति के समन्वय का आधार है।

सांख्य में बुद्धि की विवेकात्मिका क्रिया के द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त किया जाता है, इसलिए यह ज्ञान-मार्ग है। इसमें ईश्वर का अस्तित्व नहीं है इसलिये यहाँ भक्ति के लिये स्थान नहीं है। यहाँ कर्म करने वाली त्रिगुणमयी प्रकृति है जो कि आत्मा पर अज्ञान, कामना, सुख, दुख, मोहादि का आवरण डालकर कर्म करती है, अतः कर्म ज्ञान में सहायक नहीं होता। इनकी उपयोगिता वैराग्य होने तक हो सकती है। तदन्तर ज्ञान-प्राप्ति के लिये कर्मों की न कोई आवश्यकता रहती है और न उपयोगिता। अतः इस मार्ग में कर्म का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। इसलिए गीता ने सांख्य और संन्यास को समानार्थक माना है (५।२,४)। योग दर्शन में ईश्वर की सत्ता मानी जाती है। अतः इसमें भक्ति का स्थान है[1]। परन्तु इसकी लक्ष्यभूत समाधि ऐसी स्थिति है जिसमें कोई भी संकल्प नहीं रहता (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः), अतः इसमें कर्मों को समाधि में विघ्नकारक मानकर उनसे दूर रहना होता है। इसलिये इसमें

---

१ ईश्वरप्रणिधानाद्वा सर्वम् ।। योग सूत्र १।२३।।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।। योग सूत्र १।२८।।

भी कर्म के लिए विशेष स्थान नहीं है। मायावाद में कूटस्थ अक्षर ब्रह्म लक्ष्य है। इसका जीव से लेशमात्र भी भेद नहीं है (जीवो ब्रह्मैव)। अतः इसमें भक्ति द्वैत, अहंकार और अज्ञान की अवस्था में ही संभव है। द्वैत, अहंकार और अज्ञान के दूर होने पर और पूर्ण ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर भक्ति का होना संभव नहीं है और सांख्य के समान यहाँ भी कर्म अज्ञान और कामना से जन्य होते हैं। उनकी उपयोगिता अज्ञानावस्था में ही होती है। विवेक, वैराग्य, शम दमादि षट् संपत् और मुमुक्षा इस साधन चतुष्टय के प्राप्त हो-जाने पर कर्मों का संन्यास कर देना आवश्यक होता है और पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर जब अज्ञान और कामनायें दूर हो जाते हैं तो कर्म का होना संभव नहीं है। अतः यहाँ भी सांख्य के समान कर्मयोग का विशेष स्थान नहीं है।

गीता ने क्षर और अक्षर से ऊपर पुरुषोत्तम को माना है। यह पुरुषोत्तम ही अपने पूर्ण दिव्य ज्ञान में रहता हुआ समस्त चराचर विश्व का संचालन करता है। यही मानव रूप में अवतार ग्रहण करता है। यह प्रत्येक जीव का सुहृद्, प्रेमी, रक्षक और गुरु है। यह अपनी भक्ति करने वालों को सरल मार्ग से समस्त कठिनाइयों को पार कराता हुआ अपने धाम को ले जाता है। अतः गीता में भक्ति को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है और यहाँ कर्म करने वाला स्वयं ईश्वर या उसकी दिव्य ज्ञानमयी पराशक्ति या पराप्रकृति है। साधक जनकादि के समान कर्म करते हुए उस परमातमा कों प्राप्त कर सकता है और फिर उस परा या दैवी प्रकृति को प्राप्त करके पूर्ण ज्ञान में स्थित रहता हुआ लोक-संग्रहार्थ कर्म करता रह सकता है। अतः गीता में कर्म को भी बहुत महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों का समन्वय किया गया है।

ज्ञान मार्ग और संन्यास मार्ग के टीकाकार गीता के कुछ वचनों[1] को लेकर उनके आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि गीता संन्यास मार्ग का प्रतिपादक ग्रन्थ है और उसमें जो कहीं कहीं कर्म करने का आदेश दिया गया है वह उसका मुख्य और श्रेष्ठ सिद्धान्त नहीं है। परन्तु यदि निष्पक्ष भाव से

---

१. १८।४९

सम्पूर्ण ग्रन्थ पर विचार किया जाय तो इसके विपक्ष में प्रबल प्रमाण मिलते हैं। निःसन्देह गीता ने कर्म के सर्वथा परित्याग-रूप कर्म-संन्यास को भी मोक्ष की प्राप्ति में एक साधन माना है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता उसे ही एकमात्र और श्रेष्ठतम साधन मानती है। इसके विपरीत उसने अनेक स्थानों पर यह स्पष्ट कर दिया है कि अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है (कर्मज्यायो ह्यकर्मण: ४३।८)। कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है (५।२)। यज्ञादि कर्मों का परित्याग करने वाला संन्यासी नहीं होता अपितु फल का आश्रय न लेकर कर्त्तव्य कर्म के करने वाला संन्यासी और योगी होता है (६।१)। गीता में काम, क्रोध, द्वेष आदि निकृष्ट वृत्तियों का त्याग (५।३), कर्मों का भगवान् को अर्पण करना संन्यास है और यह ऐसा संन्यास है कि जिसमें युद्ध जैसे कर्म भी सन्यास कहलाते हैं (३।३०)।

भक्ति मार्ग के टीकाकार गीता के कुछ श्लोकों[1] के आधार पर उसे केवल भक्ति का प्रतिपादक सिद्ध करने का यत्न करते हैं। ये टीकाकार गीता के अद्वैत-तत्त्व और उसने जो समस्त भूतों के साथ एकात्मभाव की प्राप्ति (सर्वभूतात्म-भूतात्मा), समस्त भूतों के एक आत्मा, ब्रह्म में शान्त निर्वाण या स्थिति को उच्च स्थान दिया है उसकी उपेक्षा करते हैं। गीता ने जिस भक्ति को श्रेष्ठ माना है वह ज्ञानी की भक्ति है (ज्ञानी त्वात्मैव मतम्)। इस भक्ति में कर्मों का परित्याग नहीं है अपितु इसके अनुसार सच्ची भक्ति वह है जो समस्त कर्मों द्वारा प्रकट होती है (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य)। अतः गीता समस्त कर्मों को भक्ति-भाव से करने का आदेश देती है (मामनुस्मर युध्य च)।

कर्म मार्ग का अनुसरण करने वाले मीमांसक यज्ञादि कर्मों को ही कर्म मानते हैं और इनके ही द्वारा स्वर्ग या मोक्ष-रूप लक्ष्य की प्राप्ति मानते हैं और इन्हें जीवन प्रर्यन्त करते रहने का आदेश देते हैं (यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्)। गीता ने निःसन्देह यज्ञ करने का आदेश दिया है और उसने पुरुषोत्तम को समस्त यज्ञों का भोक्ता और प्रभु (अहं हि सर्व यज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च) माना है। परन्तु गीता ने यज्ञ शब्द को बहुत व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। गीता में यज्ञ का अर्थ है भगवान् को अर्पण, निम्न प्रकृति की क्रियाओं का

---

१. ६।४७ ; ११।५४ ; १८।६८॥ इत्यादि

परित्याग इन्द्रिय-संयम और मन:-संयम इत्यादि। इस अर्थ में मानव-जीवन के वे समस्त कर्म जो कि भगवदर्पण भाव से, भगवान् की प्राप्ति के उद्देश्य से, इन्द्रिय और मन को संयत करने के लिए किये जायें यज्ञ कहलाते हैं। यहाँ खाना, पीना, दान, स्वाध्याय, सत्यभाषण, दूसरों की सेवा, मन में शुद्ध भाव रखना, तप, प्राणायाम आदि कर्म भी यज्ञ हैं।[1]

पाश्चात्य बुद्धि वाले मनुष्य गीता के "कर्मण्येवाधिकारस्ते" इत्यादि वचनों के आधार पर उसे केवल कर्मशास्त्र मानते हैं। उनकी दृष्टि में गीता जिन कर्मों के करने का विधान करती है वे हैं नैतिक और सामाजिक कर्म। ये कर्म वे हैं जो कि परोपकार की भावना से किये जाते हैं, जैसे दीन दु:खियों की सेवा करना, विद्यालय, चिकित्सालय आदि स्थापित करना, समाज या राष्ट्र को सुखी बनाने के लिए कृषि, विज्ञान आदि में उन्नति करना, उसके लिए युद्ध करना इत्यादि। वास्तव में गीता ने जिन कर्मों के करने का आदेश दिया है, मुक्तात्मा ऋषि जिन कर्मों को समस्त भूतों के लिये हितकारी समझकर करता है उनमें ये कर्म भी आ जाते हैं। परन्तु उनकी भावना पाश्चात्य कर्म-मार्गियों की भावना से बहुत भिन्न होती है। पाश्चात्य बुद्धि का लक्ष्य है मनुष्य का केवल भौतिक सुख, गीता का लक्ष्य है मोक्ष, अमरता, आध्यात्मिक परमानन्द। पाश्चात्यों का इष्ट देवता मनुष्य है, गीता का इष्ट देवता एकमात्र ईश्वर, पुरुषोत्तम है जो कि समस्त जीवों का एकतम आत्मा है। पाश्चात्य बुद्धि के अनुसार कर्मों का कर्ता मानव अहङ्कार है। मनुष्य अपनी मानव बुद्धि से जिन कर्मों को श्रेष्ठ और मानव समाज के लिए हितकारी समझता है वही कर्म उसके लिए कर्तव्य कर्म

---

१. सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥४।२७॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥४।२८॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥९।२७॥

हैं। गीता में कर्तृत्वाभिमान का त्याग करके कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय ईश्वर से कराया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित ईश्वर, वह ईश्वर जो कि समस्त प्राणियों के हृदय में भी है और सभी का आत्मा और सुहृद् है, जिन कर्मों को किसी व्यक्ति को करने का आदेश देता है वही उसका कर्त्तव्य होते हैं। अतः ये कर्म उसके प्रति भक्तिपूर्वक और यज्ञ रूप में किये जाते हैं। इन कर्मों को मनुष्य के केवल भौतिक हित के लिए नहीं किया जाता अपितु उस परमात्मा का ज्ञान[1] और प्रकाश प्राप्त करने और उसे अपने में और दूसरों में अभिव्यक्त करने के लिए। करना होता है

पाश्चात्य बुद्धि वाले कर्मों को अनिवार्य कर्त्तव्य मानते हैं। गीता ने यद्यपि कर्मों पर पर्याप्त बल दिया है परन्तु उसने इन्हें बन्धन नहीं बनाया है। मनुष्य के जीवन में ऐसी आन्तरिक परिस्थितियाँ आ सकती हैं जबकि अन्तःस्थ भगवान् के आदेश का पालन करने के लिए समस्त कर्मों का परित्याग कर देना आवश्यक हो जाता है। बुद्ध, शंकर, विवेकानन्द आदि ने ऐसी परिस्थितियों में ही कर्म का संन्यास किया है और उनका यह संन्यास गीता के उपदेश के सर्वथा अनुकूल है।

गीता के योग की तीन भूमिकायें हैं। सबसे पहले मनुष्य अपने कर्मों को निष्काम भाव से यज्ञ रूप में करता है। यहाँ वह अपने-आपको कर्त्ता मानता है। यह कर्मयोग की भूमिका है। इसके अनन्तर उसे आत्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता हैं। वह यह अनुभव करता है कि समस्त कर्मों के करने वाली प्रकृति है और आत्मा अकर्त्ता है[2]। यह ज्ञानयोग की भूमिका है। इसके अनन्तर उसे यह अनुभव होता है कि इस प्रकृति-शक्ति का अध्यक्ष और संचालक ईश्वर या पुरुषोत्तम है और उसके समस्त कर्म भक्तिपूर्वक यज्ञ रूप में उसे ही अर्पित होते हैं। यह तीसरी भूमिका भक्ति योग की है।

---

१. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

२. प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानकर्त्तारं स पश्यति ॥१३।२९॥

गीता ने अपनेसिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय कहीं कर्म पर बल दिया है, कहीं ज्ञान पर और कहीं भक्ति पर। परन्तु यह तत् तत् प्रसङ्ग के कारण है, इसलिए नहीं कि वह इनमें से किसी एक को दूसरों से श्रेष्ठ और एकमात्र कर्त्तव्य बतलाती है—यद्यपि गीता यह अस्वीकार नहीं करती कि मनुष्य अपनी विशिष्ट प्रकृति के अनुसार इसमें से किसी भी एक मार्ग का अवलम्बन करता हुआ या उसे प्रधानता देता हुआ अपने परम लक्ष्य पर पहुँच सकता है। अतः श्रीकृष्ण ने गीता में ज्ञान-योग और सांख्य-योग को दो पृथक् निष्ठायें[1] (मोक्ष-मार्ग बतलाया गया है। इसी प्रकार वह अनन्य भक्ति[2] को भी महत्त्व देती है। परन्तु वह जिस मार्ग को श्रेष्ठ मानकर कर्त्तव्य बतलाती है वह इन तीनों का समन्वय या समुच्चय है।

गीता के इस समन्वयात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले उसके उपसंहार में बतलाये गये उसके महावाक्य इस प्रकार हैं :

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।१८।६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१८।६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं ।१८।६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः मया शृणु मे परमं वचः ।१८।६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥१८।६५॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८।६६॥

ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित है। सर्व भाव से एक मात्र उसकी शरण ग्रहण कर। यह तुझे गुह्य से गुह्यतर ज्ञान बतलाया है। और भी मेरे

---

१. लोकेऽस्मिन् द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

२. भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः ।११।५४॥

सबसे अधिक गुह्यतम परम वचन को सुन। मुझ में अपना मन लगा, मेरी भक्ति कर, मेरे लिये यज्ञ कर और मुझे नमस्कार कर। ऐसा करने से तू मुझे अवश्य प्राप्त कर लेगा, कारण, तू मुझे प्रिय है। समस्त धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर। मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा।

यहाँ 'मेरे मन वाला हो' इस कथन से ज्ञानयोग, 'मेरी भक्ति कर', 'मेरी शरण ग्रहण कर' इन वचनों से भक्ति-योग और 'मेरे लिए यज्ञ कर' इस वचन से कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए तीनों का समन्वय और समुच्चय किया गया है।

पाँचवा परिच्छेद

सांख्य और ज्ञान योग

गीता की शिक्षा का प्रारम्भ सांख्य[1] से होता है। इसमें बीच-बीच में योग और वेदान्त के भावों का भी समावेश होता जाता है। परन्तु सांख्य अन्त तक मेरुदण्ड के समान गीता की सम्पूर्ण शिक्षा का आधार बना रहता है। अतः गीता के आध्यात्मिक और दार्शनिक भावों को ठीक ठीक समझने के लिये इस सांख्य का और योग और वेदान्त से इसके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

सांख्य शब्द का अर्थ है यथार्थ ज्ञान[2] (सं = सम्यक् = यथार्थ, ख्या = ख्याति = ज्ञान)। हमारे प्राचीन ऋषियों ने मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य निःश्रेयस की प्राप्ति के अनेक साधन बतलाये है जैसे—ज्ञान, कर्म, भक्ति इत्यादि। जिस मार्ग में ज्ञान रूप साधन के द्वारा निःश्रेयस प्राप्त किया जाता है उसे प्राचीन काल में सांख्य कहा जाता था। अतः गीता ने साँख्य का वर्णन करते समय इसका ज्ञान योग से तादात्म्य किया है (ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्)। यह ज्ञान-मार्ग दो प्रकार का होता है, समन्वयात्मक और विश्लेषणात्मक या विवेकात्मक। जिस मार्ग में विश्व के समस्त क्षेत्रों में एक मूलभूत तत्त्व खोजने की ओर प्रयत्न किया जाता हैं उसे समन्वयात्मक कहते हैं जैसे वेदान्त। जिसमें इनका विश्लेषण करके इनकी पृथक्-पृथक विवेचना और गिनती (संख्याकरण) की जाती है उसे विश्लेषणात्मक कहते हैं। इस विश्लेषण, विवेक, पृथक्-पृथक्, विवेचना और गिनती (संख्याकरण) की पद्धति को अपनाने के कारण इसे सांख्य कहा जाता

---

१. एषा तेऽभिहिता सांख्ये (२।३९)।

२. शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।

(शंकराचार्यकृत विष्णुसहस्रनाम-भाष्य)

संख्या = सम्यगात्मबुद्धि;। (गीता मधुसूदनी टीका ३।३; ५।४)

है[१]। प्रचलित सांख्य द्वैतवादी है। इसमें प्रकृति और पुरुष इन दो तत्त्वों को मूलभूत सत्य और भिन्न-भिन्न मानकर उनके भीतर एक सामान्य तत्त्व खोजने की ओर प्रयत्न नहीं है।

सांख्य-सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। इसका मूल उपनिषदों[२] में मिलता है। इसके प्रवर्त्तक कपिल ऋषि माने जाते हैं जिन्हें उपनिषदों में ज्ञानपूर्ण[३] कहा गया है। गीता ने इन्हें सर्वश्रेष्ठ सिद्धमुनि (सिद्धानां कपिलो मुनिः) कहा है। भागवत ने इन्हें भगवान विष्णु का अवतार माना है। पञ्चशिखाचार्य ने इन्हें करुणावश लोक-कल्याणार्थ अपने संकल्प से मन और देह का निर्माण करके पृथ्वी पर आने वाला आदि विद्वान्[४] कहा है। गौडपाद के मतानुसार ये धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न हुये थे[५]।

---

1. Sankhya is the analysis, the enumeration the separative and discriminative setting forth of the principles of our being.

(Essays on Gita. Ch. 8.)

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कश्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥ (महाभारत)
विशिनष्टि प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम॥ सांख्यकारिका॥

२. अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वेताश्वतर ४।५॥
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्॥ श्वेताश्वतर ६।१३॥

३. ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति। श्वेतं ५।२॥

४. आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान्
परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तंत्रं प्रोवाच।
(योगसूत्र व्यास-भाष्य १।२५)

५. कपिलस्य सहोत्पन्नानि धर्मो ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं च इति॥
(सांख्यकारिका भाष्य)

कपिल ऋषि के नाम से दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—तत्त्व-समास और सांख्य-सूत्र। परन्तु वर्तमान समय में इन नामों से जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे विद्वानों के मत से बहुत अर्वाचीन हैं। इनके शिष्य आसुरि हुए। इनके सिद्धान्तों का वर्णन अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। स्यादा मञ्जरी में आसुरि का एक श्लोक मिलता है। आसुरि के शिष्य पञ्चशिखाचार्य हुए। इन्होंने सांख्य-सिद्धान्तों का बहुत विस्तार किया और साठ सहस्त्र श्लोकों का एक महाग्रन्थ लिखा जिसका नाम षष्ठितन्त्र था। परन्तु यह अमूल्य रत्न-भण्डार भी काल के विकराल गाल में चला गया और हमारे पास पातंजल योग के व्यास-भाष्य आदि एक दो ग्रन्थों में इनके कुछ वचन और महाभारत शान्ति-पर्व में इनके सिद्धान्तों के कुछ संकेत-मात्र शेष रह गये हैं। पञ्चशिखाचार्य के बहुत समय बाद सांख्य परम्परा में ईश्वरकृष्ण नाम के एक विद्वान् हुए जिन्होंने सांख्य-सिद्धान्तों को ७० कारिकाओं[1] में ग्रथित किया है। इस कारिका पर माठर, गौडपाद, वाचस्पति मिश्र आदि विद्वानों की उत्तम-उत्तम टीकाएं उपलब्ध हैं। युक्तिप्रदीपिका नाम की भी एक प्राचीन टीका उपलब्ध है, परन्तु उसके लेखक का नाम प्रसिद्ध नहीं है। वर्त्तमान समय में यह सांख्य-कारिका ही एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है जिसमें साँख्य-सिद्धान्तों का व्यवस्थित रूप में प्रतिपादन किया गया है। शङ्कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में इसके ही सिद्धान्तों को आधार बनाकर समालोचना की है। आधुनिक विद्वान् भी सांख्य-विवेचना के लिए इसे ही प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।

सांख्य में दो मूल-तत्त्व माने जाते हैं—पुरुष और प्रकृति। पुरुष चेतन है और प्रकृति अचेतन। प्रकृति के तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्व का धर्म होता है ज्ञान, प्रकाश और सुख, रजोगुण का धर्म है अज्ञान, अप्रवृत्ति और मोह। ये गुण जब समान अवस्था में रहते हैं तो उसे मूल प्रकृति कहा जाता हैं। जब इनमें विषमता होने लगती है तो सृष्टि होती है। मूल प्रकृति में सबसे पहले महान तत्त्व उत्पन्न होता है जिसका दूसरा नाम बुद्धि है। महान् से

---

१. सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ॥

सांख्यकारिका ७२

अहंकार, अहंकार से मन, पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ और पञ्च तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ये सोलह तत्त्व उत्पन्न होते हैं। पञ्च तन्मात्राओं से आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी-ये पाँच स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं[१]। इस प्रकार चौबीस तत्त्वों वाली प्रकृति और एक पुरुष मिलाकर यह पच्चीस तत्त्वों वाला सांख्य होता है।

प्रकृति अविवेकी, त्रिगुणमयी, अचेतन, कर्त्री, प्रसवधर्मिणी, भोग्या है। पुरुष विवेकी, अगुण, चेतन, अकर्त्ता, साक्षी, द्रष्टा, असङ्ग है। हमारे शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहङ्कार, बुद्धि और सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि विश्व के समस्त पदार्थ प्रकृति के विकार हैं। पुरुष शुद्ध और असंग होते हुये भी जब बुद्धि के द्वारा प्रकृति की क्रियाओं का प्रतिबिम्ब स्वीकार करता है तो वह अज्ञान-वश अपने आपको कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, मोही बद्ध मानने लगता है। जब उसे अपने और प्रकृति के स्वरूप का विवेकज्ञान (विवेक-ख्याति) हो जाता है तो प्रकृति से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

गीता का सांख्य प्रचलित सांख्य के सिद्धान्तों को कुछ अंशों में स्वीकार करता है और कुछ अंशों में उससे आगे बढ़ जाता है। इसमें सांख्य की प्रारम्भिक विवेचना "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" (२।११) श्लोक से "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" (२।३९) तक होती है। यह विवेचना अर्जुन की एक विशेष कठिनाई को दृष्टि में रखकर हुई है। गीता के पहले अध्याय में यह बतलाया गया है कि युद्ध के अवसर पर अर्जुन के मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि युद्ध में भीष्म, द्रोण आदि की मृत्यु हो जाने पर उसे पाप[२] लगेगा। इसी कारण उसे तीव्र शोक हो रहा है। इस पाप और शोक के मूल में है आत्मा और अनात्मा के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान और तज्जन्य मोह। इस अज्ञान और मोह को दूर करने और इसके परिणाम-स्वरूप शोक और पाप की निवृत्ति के लिये सम्पूर्ण गीता और उसके अङ्गभूत सांख्य का उपदेश होता है।

---

१. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडषकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च महाभूतानि ॥ (सां० का० २२)

२. अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ॥ १।४५ ॥

गीता कहती है कि मृत्यु विषयक शोक तब होता है जबकि मनुष्य यह सोचता है कि जिसकी मृत्यु होती है उसका सर्वथा विनाश हो जाता है और कुछ भी अस्तित्व शेष नहीं रहता। परन्तु यह अज्ञान है। जिस वस्तु का विनाश होता है वह स्थूल शरीर होता है[1]। मनुष्य केवल शरीर नहीं है। उसके भीतर शरीर से भिन्न एक दूसरा तत्त्व भी विद्यमान है जिसे पुरुष, आत्मा, शरीरी, देही कहा जाता है जो शरीर को धारण करता है परन्तु इसके नष्ट होने पर स्वयं नष्ट नहीं होता है। वह नित्य, अविनाशी, अनन्त असीम है :

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य ··· ··· ··· ··· ॥२।१८॥

इस आत्मा का जब शरीर के साथ संयोग होता है तो उसे व्यावहारिक भाषा में जन्म और जब वियोग होता है तो उसे मरण कहा जाता है। वास्तव में आत्मा का न जन्म होना है न मरण। वह अज, नित्य, सर्वदा विद्यमान रहने वाला (शाश्वत) पुराण पुरुष है। शरीर की हत्या होने पर भी इसकी हत्या नहीं होती (२।२०)।

आत्मा का शरीर के साथ यह संयोग इस प्रकार का होता है जैसे मनुष्य का वस्त्र के साथ :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२।२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों का परित्याग करके दूसरे नवीन वस्त्र ग्रहण करता है

---

१. सत्कार्यवादी सांख्य के अनुसार शरीर का भी सर्वथा विनाश नहीं होता। लौकिक भाषा में जिसे मृत्यु कहा जाता है वह है शरीर का अपने उपादान-भूत पृथ्वी आदि पाँच तत्वों का रूप धारण कर लेना। अतः इस मत में विनाश का अर्थ है रूप-परिवर्तन, कार्य का कारण-रूप धारण कर लेना।

इसी प्रकार आत्मा (देही) पुराने शरीरों का परित्याग करके दूसरे नवीन धारण करता है। पुराने वस्त्रों का परित्याग जैसे मनुष्य का मरण और नवीन वस्त्रों का ग्रहण उसका जन्म नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार पुराने का परित्याग आत्मा का मरण और नवीन शरीर का ग्रहण उसका जन्म नहीं हो सकता। अतः मनुष्य अज्ञानवश शरीर के साथ आत्मा के संयोग और वियोग को उसके जन्म और मरण मानकर हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वों में फंसता है और दुःख भोगता है।

आत्मा और शरीर के भेद को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये गीता ने इनके धर्मों की विस्तारपूर्वक विवेचना की है। शरीर शस्त्र से काटा जा सकता है, अग्नि में जलाया जा सकता है, जल में गीला किया या गलाया जा सकता है। आत्मा में ये विकार नहीं हो सकते, कारण वह अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य है। शरीर विनाशी होने के कारण अनित्य है, एकदेशी है, गतिशील, परिवर्त्तनशील है। आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थाणु, अचल, सनातन है (२।२३,२४)। शरीर में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि गुण रहते हैं, इस कारण इसका स्थूल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो सकता है। अतः यह व्यक्त या स्थूल है। आत्मा में शब्द, स्पर्श आदि गुण नहीं रहते, इस कारण वह स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है[1], अतः वह अव्यक्त है। हमारे साधारण मन के तर्क-वितर्क इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के आधार पर होते हैं और यह इन्द्रिय-ज्ञान स्थूल विषयों का ही होता है, अतः हमारा मानसिक तर्क-वितर्क भी शरीरादि स्थूल विषयों ज्ञान के आधार पर ही हुआ करता है। परन्तु आत्मा स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः वह मन की पहुँच से बाहर हैं। दीर्घकाल तक योग साधना करने पर

---

१. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

कठोपनिषद् १।३।१५

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥

कठोपनिषद् २।३।१२ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ॥

कठोपनिषद् २।३।९॥

जब उपयुक्त अवसर आता है तो आत्मा अपने स्वरूप में प्रकाशित होता है। मन अपने तर्क वितर्कों के द्वारा कभी भी उसके स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता[1], है अतः आत्मा अचिन्त्य कहा गया है। शरीर में बाल्यपन, यौवन, वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु, वद्धि और क्षय आदि विकार होते हैं, अतः वह विकारी है। आत्मा ये सब विकार नहीं होते इसलिए वह अविकार्य है (२।२५)। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर और आत्मा के धर्म एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और विपरीत हैं और ये दो भिन्न पदार्थ हैं। मनुष्य अज्ञानवश इन दोनों को एक समझकर मोह और शोक करता है। जिस मनुष्य को इनका भेद-ज्ञान (विवेक) हो जाता है उस पण्डित[2] को मृत्यु विषयक शोक नहीं होता।

× × × ×

गीता के इस ज्ञान-योग का मूल उपनिषदों में अनेक रूपों में उपलब्ध होता है। स्थूल शरीर से आत्मा का विवेक करने वाले गीता के अनेक श्लोक केवल एक दो शब्द के अन्तर से उपनिषदों में मिलते हैं। यथा—

न जायते म्रियते वा विपश्चि—
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो—
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(कठ० १।२।१८)

न जायते म्रियते वा कदाचि
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (गीता २।१८)

---

१. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः ॥ केनोप० १।३ ॥

२. पण्डित शब्द का अर्थ है आत्मा और अनात्मा का विवेक करने वाली बुद्धि (पण्डा) जिसे प्राप्त हुई (पण्डा जाताऽस्य)।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्यन्यते हतम् ।
उभो तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
(कठोप० १।२।१६)

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभो तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥
(गीता २।१६)

इन श्लोकों के ऊपर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि गीता ने ये श्लोक कठोपनिषद् से ही लिये हैं ।

इसके अतिरिक्त, गीता में यहाँ केवल स्थूल शरीर से आत्मा का भेद दिखलाया गया है । इसका कारण यह है कि अर्जुन की जिस समस्या को सुलझाने के लिये गीता का उपदेश हुआ वह स्थूल रूप में मृत्यु-विषयिणी थी, जिसका मुख्य सम्बन्ध स्थूल शरीर से है । उपनिषदों में आत्मा को स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से, इन्द्रिय मन और बुद्धि से, जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से तथा पंच कोषों से पृथक् करके दिखलाया गया है । कठोपनिषद् में शरीर को रथ, इन्द्रियों को अश्व, मन को लगाम और बुद्धि को सारथि मानकर आत्मा को इन सबसे भिन्न और इस संसार में यात्रा करने वाला रथी बतलाया गया है । इसे वहाँ अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगंधवत्, अनादि, अनन्त, महान् (बुद्धि) से परे, ध्रुव, अशरीर कहा गया है । इसे विवेक द्वारा अपने शरीर से इस प्रकार पृथक् करने का आदेश दिया गया है जैसे मूंज से सींक को बाहर निकाला जाता है[1] । गीता में जो यात्रा शब्द (शरीर यात्रा ३।८) आया है वह कठोपनिषद् के अध्वन शब्द (१।३।९) का अनुवाद प्रतीत होता है । कठोपनिषद् में शरीर को एकादश द्वार वाला (पुरमेकादशद्वारं २।२।१) कहा गया गीता ने इस पुर को जिसमें आत्मा निवास करता है नव द्वार वाला (नवद्वारे पुरे देही १।१३) कहा है ।

मांडूक्य उपनिषद् में आत्मा की चार अवस्थायें बतलाई गई हैं—जागृत,

---

१. तं स्वाच्छरीरात् प्रवहेत् मुन्जादिवेषीकां धैर्येण ।२।३।१७।

स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जागृत अवस्था में जो आत्मा का स्वरूप अनुभूत होता है वह स्थूल शरीर रूप उपाधि से युक्त होता है। यह स्थूल शरीर रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं का बना हुआ है। स्वप्न में आत्मा सूक्ष्म शरीर से उपहित अनुभूत होता हैं। सूक्ष्म शरीर बुद्धि, अहंकार, चित्त, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण इन उन्नीस तत्त्वों का बना होता है। सुषुप्ति में कारण शरीर[१] उपाधि होता है। इन तीनों अवस्थाओं में जो आत्मा के स्वरूप का अनुभव होता है वह सोपाधिक होने से शुद्ध नहीं होता। इन तीनों उपाधियों से रहित आत्मा का एक चौथा स्वरूप भी है जिसे तुरीय कहा गया है। योग की अपरिपक्व अवस्था में इस स्वरूप का अनुभव केवल निर्विकल्प समाधि में होता है। परन्तु जब परिपक्व अवस्था आ जाती है तो हर समय, हर अवस्था में आत्मा की अनुभूति बनी रहती है। गीता में जिस ब्राह्मी स्थिति का वर्णन किया गया है वह परिपक्व अवस्था की ही है, जिसमें स्थित होने पर योगी लेशमात्र भी दुःख से विचलित नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद्[२] ने आत्मा को बुढापा, मृत्यु, भूख, प्यासादि स्थूल शारीरिक धर्मों से रहित (विजरः, विमृत्युः, विजिघत्सोऽपिपासः) और पाप, शोक आदि मानस धर्मों से रहित (अपहतपाप्मा, विशोकः) कहा है और फिर उसे स्थूल शरीर तथा जागृन, स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं से पृथक् दिखलाया है।

---

१. शंकराचार्य ने त्रिगुणमयी अव्यक्त प्रकृति को कारण शरीर माना हैः—

अव्यक्तमेतत् त्रिगुणैर्निरुक्तं
तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः।
सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था
प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिः॥ (विवेक चूडामणिः १।२)

श्री अरविन्द ने कारण शरीर को विज्ञान या अतिमन का बना माना है।

२. ८।७……१३।

तैत्तिरीय उपनिषद् (२।१) में आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों से भिन्न बतलाया गया है।

शङ्कराचार्य के विवेक-चूड़ामणि[1] और विद्यारण्य की पञ्चदशी में इस विषय की स्तिार-पूर्वक व्याख्या की गई है। रक्त मांसादि सात तत्त्वों का बना स्थूल शरीर अन्नमय कोष, पञ्चप्राण और कर्मेन्द्रियों को प्राणमय कोष, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन को मनोमय कोष कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ निश्चयात्मिका बुद्धि विज्ञानमय कोष कहलाती है। कारण-शरीर-रूप त्रिगुणमयी अविद्या-माया के मलिन सत्त्व में आनन्द-स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने पर जो प्रिय, मोद-प्रमोद आदि वृत्ति उत्पन्न होती है इसे आनन्दमय कोष कहा गया है।

गीता ने शरीर की जो उपमा वस्त्र से दी है यह महाभारत के स्त्री-पर्व[2] में भी मिलती है। इसके अतिरिक्त महाभारत में शरीर की उपमा गृह[3] और शाला[4] से भी दी गई है। अर्वाचीन सन्तों में से किसी ने शरीर की उपमा गढ़ से दी है और किसी ने शरीर को पिंजरा और आत्मा को उसमें रहने वाला पंछी कहा है।

\+ \+ \+ \+ \+ \+

आत्मा और शरीर विषयक यह ज्ञान भारत की अपनी अनूठी खोज है।

---

१. योऽयमात्मा स्वयज्ज्योतिः पञ्चकोषविलक्षणः।
अवस्थात्रयसाक्षी सन् निर्विकारो निरञ्जनः।
सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्त्वेन विपश्चिता ॥२१३॥

२. यथा जीर्णमजीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पुरुषः।
अन्यद्रोचयते वस्त्रमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥३।६॥

३. गृहाणीव हि मर्त्यानामाहुः देहानि पण्डिताः।
कालेन विनियुज्यन्ते सत्त्वमेकं तु शाश्वतम् ॥३।८॥

४. यथा हि पुरुषः शालां पुनः संप्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥
म० शा० १५।५७॥

प्राचीन काल में जबकि भारत का मिश्र देश से व्यापारिक सम्बन्ध था तो यह ज्ञान भारत से उस देश में पहुँचा[1]। वहाँ से यह यूरोप पहुँचा जिसे पाईथागोरस, प्लेटो, एरिस्टोटल जैसे उच्चकोटि के विद्वानों ने अपना लिया। पाईथागोरस पर तो इसका इतना गहरा प्रभाव था कि उसने गीता के समान शरीर की उपमा वस्त्र से देकर अपने पूर्वजन्मों का वर्णन किया है। वह कहता है :—

"Nor dies the spirit, but new life repeats,
In another forms, and only changes seats.
Eve'n I, who these misterious truths declare,
Was once Euphorbus in the Trojan war;
My name and Lineage I remember well,
And how in fight by Sparta's king I fell,
In Argive Juno's fane I late beheld
My buckler rung on high, and own'd my
former shield.
Then death, so called, is but old matter dress'd
In some new figure, and vary'd vest :
Thus all things are but alter'd, nothing dies ;
And here and there the unbodied spirit flies,
So death, so called, can but the form deface,
Th' immortal soul flies out in empty space;
To seek her fortune in some other place."

(Dryden's Translation)

---

१. कार्ल हेकेल कहते हैं—"मुझे निश्चय हो चुका है कि जितनी अधिक गहराई से हम मिश्र वालों के धर्म का अध्ययन करते है उतना ही स्पष्ट हमें यह दिखलाई देता है कि सर्वसाधारण मिश्रीय धर्म के लिए आत्मा की देहान्तर-प्राप्ति का सिद्धान्त बिल्कुल पराई वस्तु थी और जिस किसी भी रहस्य ग्रन्थ में वह बात है वह ओसाइरिस (Osiris) उपदेशों के भीतर नहीं है, उसे हिन्दु ग्रन्थों से प्राप्त किया गया है।"

"आत्मा मरता नहीं है अपितु दूसरा जीवन धारण करता है और केवल स्थान परिवर्तन करता है। स्वयं मैं जो कि इन गूढ़ रहस्यों का वर्णन कर रहा हूँ ट्रौजन के युद्ध में युफोवर्स था। मुझे अपने पूर्व जन्म के नाम और वंश की ठीक ठीक स्मृति है। मैं स्पार्टा के राजा की ओर से युद्ध करता हुआ मारा गया था। मैंने यह देखा है कि मेरी ढाल आरजिव जूनो के महल में टंगी हुई है। अतः मृत्यु केवल पुराने वस्त्र का त्याग करके नवीन वस्त्र धारण करना है। इसलिए मृत्यु में कुछ भी मरता नहीं है, केवल रूप-परिवर्तन होता है और अमर आत्मा दूसरा जीवन धारण करने के लिए आकाश में चला जाता है।"

पाईथागोरस और प्लेटो जैसे विद्वानों की आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म में यह विश्वास होते हुये भी इस मत को यूरोप के साधारण जन-समाज ने नहीं अपनाया। वहाँ तो स्थूल दृष्टि से जैसा प्रतीत होता है स्थूल शरीर को ही आत्मा माना जाता रहा है। और यदि कुछ व्यक्तियों ने आत्मा को शरीर से भिन्न माना भी तो यह विश्वास बना रहा कि आत्मा को केवल एक ही शरीर मिलता है और इस शरीर के मरने पर आत्मा, बिना किसी शरीर के आकाश में किसी आधार की खोज में घूमता रहता है। उसे जब दूसरा आधार नहीं मिलता तो विवश होकर मरे हुई शरीर को ही आधार बनाकर किसी प्रकार सुखी होना चाहता है। यदि यह शरीर जल जाय या नष्ट हो जाय तो उसे बहुत अधिक कष्ट होता है। इस विश्वास के कारण ही मध्यकाल में यूरोपीय देशों के विशेषज्ञों ने ऐसे मसालों के आविष्कार करने का प्रयत्न किया जिनसे कि मृत शरीर को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखा जा सके और आत्मा के कष्टों को यथासंभव कम कर दिया जा सके। ईसाई और इस्लाम धर्मों में यद्यपि आत्मा को शरीर से भिन्न माना जाता है परन्तु "आत्मा को केवल एक ही शरीर मिलता है" इस विश्वास की गहरी छाप उनपर पड़ी है। वहाँ मृत शरीर को कब्र में इस कारण रखा जाता है कि जिससे कयामत (प्रलय) के समय वही शरीर फिर फरिश्तों के द्वारा जीवित किया जा सके और आत्मा फिर उसे ग्रहण कर सके और स्वर्ग या नरक में इसी शरीर के द्वारा अनन्त काल तक अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल भोग सके। इस शरीर के अतिरिक्त कोई

दूसरा शरीर भी आत्मा को मिल सकता है, यह कल्पना वहाँ नहीं है। इसके विपरीत हिन्दू धर्म का सिद्धान्त है कि जब तक आत्मा मुक्त नहीं हो पाता तब तक अपने कर्मों के अनुसार बराबर नवीन नवीन देह धारण करता रहता है। जब वह मुक्त हो जाता है तो वह देह परित्याग करके अनन्त काल तक अपने पूर्ण आनन्दमय स्वरूप में रह सकता है, वह ब्रह्म में लीन हो सकता है[1], अथवा यदि वह चाहे तो भगवान् की इच्छा के अनुसार अभीष्ट देह धारण करके किसी लोक में रहता हुआ[2] परमानन्द का अनुभव करता रह सकता हैं और दूसरे जीवों को उनके विकास में सहायता देता रह सकता है।

---

१. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥

बृहदारण्यक ४।४।६ ॥

२. स सर्वांश्च लोकानाप्नोति। (छान्दोग्य ८।१२।६)।

तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ (छान्दोग्य ७।२५।२)।

छटा परिच्छेद

क्षत्रिय-धर्म

कुरुक्षेत्र युद्ध के अवसर पर युद्ध में भीष्म, द्रोण आदि की मृत्यु की सम्भावना को देखकर अर्जुन सोचता है कि युद्ध करने में उसे पाप लगेगा अतः उसे बहुत उग्र शोक हो रहा है। यह शोक उसकी अन्तस्तम सत्ता की समस्या से उद्भूत हुआ है, इसलिये जब तक उस मूलभूत समस्या का समाधान न हो जाय, जबतक उसे आत्मज्ञान न प्राप्त हो जाय, तबतक वह दूर होने वाला नहीं था। इसकारण भगवान् गुरु ने अर्जुन को सांख्यशास्त्र के अनुसार आत्मा के स्वरूप का प्रारम्भिक उपदेश दिया। उसे बतलाया कि युद्ध में मृत्यु केवल शरीर की होती है। मनुष्य केवल शरीर नहीं है। उसके भीतर शरीर से भिन्न एक और भी तत्त्व है और वही मुख्यतम है—वह है आत्मा। आत्मा के कारण ही शरीर का अस्तित्व है। आत्मा शरीर को इस प्रकार धारण करता है जैसे मनुष्य वस्त्र को। शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा का विनाश नहीं होता। वह नित्य अजर, अमर अविनाशी है। इस उपदेश के साथ-साथ उसे युद्ध करने का भी आदेश दिया है (तस्माद् युध्यस्व भारत २।१८)। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस उपदेश से मनुष्य को यह ज्ञान तो हो सकता है कि जिनको हम मरा हुआ समझते हैं वे वास्तव में मरे नहीं हैं, वे दूसरे लोकों में या दूसरे जीवन में विद्यमान रहते हैं, अतः उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। इससे हमें यह शिक्षा भी मिलती है कि इस जीवन के भीषण से भीषण सङ्कट को, यहाँ तक कि शारीरिक मृत्यु को भी शान्त और अविचल भाव से देख सकें। अतः इससे मोह, शोक और मृत्यु का भय दूर हो सकता है। परन्तु अर्जुन को जो युद्ध करने के लिये कहा जा रहा है वह इससे कैसे सिद्ध होता है? जीवन के उच्चतम लक्ष्य आत्मज्ञान की प्राप्ति में इस युद्ध की क्या आवश्यकता या उपयोगिता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस ग्रात्मज्ञान के, जो कि मानव-जीवन का उच्चतम लक्ष्य है, प्राप्त करने का साधन ग्रर्जुन के लिए उसके स्वभाव, स्वधर्म ग्रौर उसकी सामाजिक परिस्थिति को देखते हुए उसके गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि में युद्ध ही है। निःसन्देह यह परम लक्ष्य मनुष्य संन्यास मार्ग के द्वारा समस्त कर्मों का परित्याग करके, शान्त एकान्त ग्ररण्य में रहकर योगसाधना करते हुए भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु गीता के ग्रनुसार उसे मानव जीवन के लिये ग्रावश्यक समस्त कर्मों के करते हुये भी प्राप्त किया जा सकता है ग्रौर उन कर्मों में युद्ध भी एक कर्म है, जैसा कि गीता ग्रागे कहती है कि जनकादि राजाग्रों ने (युद्धादि) कर्मों के द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त किया था। इसलिए ग्रर्जुन को भी उसी मार्ग के ग्रनुसरण करने का ग्रादेश दिया गया है।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने ग्रपनी सूक्ष्म-दृष्टि से मानव-प्रकृति का निरीक्षण करके यह निर्धारित किया था कि मनुष्य चार प्रकार की प्रकृति वाले होते हैं। प्रथम वे व्यक्ति जो कि प्रत्येक वस्तु ग्रौर घटना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं, शान्त स्वभाव वाले, बुद्धिमान्, ग्रध्ययनशील, विचारशील, ज्ञानवान् होते हैं। यही मनुष्य पृथ्वी पर नवीन ज्ञान का ग्रवतरण किया करते हैं। दूसरे वे मनुष्य जो कि शारीरिक बल रखते हैं, दूसरों पर शासन करने की सामर्थ्य रखने वाले ग्रौर युद्ध-कुशल होते हैं। तीसरे वे व्यक्ति जोकि कृषि, व्यापार, उद्योग ग्रादि के द्वारा धन उत्पन्न करने की योग्यता रखते हैं। चौथे वे मनुष्य जो केवल स्थूल शारीरिक श्रम कर सकते हैं। इन्हें हमारे उन ऋषियों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ग्रौर शूद्र कहा है। उन्होंने इनके कर्मों को इस प्रकार सुसंस्कृत, व्यवस्थित ग्रौर नियमबद्ध किया था कि जिससे ये कर्म प्रत्येक मनुष्य के विकास की भूमिका के ग्रनुसार उसकी सामाजिक, नैतिक, ग्रार्थिक ग्रौर ग्राध्यात्मिक हर प्रकार की उन्नति में सहायक होते थे। वैदिक काल में इनमें जन्म का कोई बन्धन नहीं था। प्रत्येक मनुष्य ग्रपने सहज स्वभाव, शिक्षा ग्रौर रुचि के ग्रनुसार इनमें से किसी को भी ग्रपना सकता था। उसे ग्राचार्य से भी इसमें सहायता मिलती थी। परन्तु समय बीतने पर इसमें कठोरता ग्रा गई ग्रौर इसे जन्म के ग्राधार पर माना जाने लगा। इसका सच्चा ग्रात्मा लुप्त हो गया

और पञ्जरमात्र शेष रह गया। परन्तु यह चार प्रकार का मानव विभाग सनातन सत्य है। आज भी प्रत्येक देश और समाज में चार प्रकार की प्रकृति वाले मनुष्य होते हैं।

अर्जुन क्षत्रिय है। क्षत्रिय का धर्म है प्रजा की धर्मपूर्वक रक्षा करना। जो मनुष्य काम, लोभ आदि के वश दूसरों से अन्यायपूर्वक धन को ले लेते हैं, दूसरों पर अत्याचार करते हैं, निरपराधों को कष्ट पहुँचाते हैं, हिंसा करते हैं, दुश्चरित्र होते हैं उन्हें दुष्कर्मों से रोकना, आवश्यकता पड़ने पर उनके साथ युद्ध करना और युद्ध में विजय प्राप्त करना, यदि विजय न हो तो युद्ध करते हुये वहीं प्राण दे देना, वहाँ से कायरतापूर्वक जान बचाकर न भागना।[१]

ऐसे मनुष्य के लिये जो कि शारीरिक बल रखता है और जिसे दूसरों पर शासन करने का अवसर मिलता है, बहुत कुछ ऐसी सम्भावना रहती है कि वह लोभवश दूसरों से अन्यायपूर्वक धन ग्रहण कर ले, धन प्राप्त होने पर विषयभोगों में लिप्त हो जाय, बल के आवेश में दूसरों को कष्ट पहुँचाये। इसलिये हमारे ऋषियों ने उसके लिए ऐसे नियम निर्धारित किये हैं कि जिनका पालन करने से वह ऐसे दोषों से बच सकता है। वे नियम इस प्रकार हैं: गुरुकुल में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुये उत्तम-उत्तम शास्त्रों का अध्ययन करना, सदाचारी, ज्ञानी, श्रेष्ठ वृद्ध पुरुषों का सदा संग और उनकी सेवा सुश्रूषा करते रहना, यज्ञ करना, दान देना, इन्द्रियों पर संयम रखना, दीन, दुःखी, निबलों पर दया करते हुये उनकी सदा रक्षा करते रहना, अपने काम, क्रोध, लोभ आदि को अपने वश में रखना। केवल धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना न कि हिंसकता और क्रूरता के वश होकर। युद्ध आदि समस्त कर्म आत्मा, परमात्मा, अमृतत्त्वरूप लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये करना[२]। इस प्रकार के गुण वाले व्यक्ति को आर्य-क्षत्रिय कहते हैं।

अहिंसा के कुछ पक्षपाती युद्ध से घृणा करते है; वे प्रत्येक कार्य को अहिंसा, दया और क्षमा से ही सिद्ध करने का उपदेश देते हैं। उनकी यह धारणा विश्व

---

१. मनुस्मृति : अध्याय ७। २. मनुस्मृति : अध्याय ७

के अल्प ज्ञान पर अवलम्बित है। यह संसार एक प्रकार का युद्धक्षेत्र है। मृत्यु में जीवन का तत्त्व छिपा हुआ है। दुर्बल, जीर्ण, क्षीण, रोगी शरीर के नष्ट हो जाने पर ही नवीन, स्वस्थ, सबल, सुन्दर शरीर प्राप्त होता है। बीज जब मिट्टी में मिल जाता है तभी उससे नवीन वृक्ष उत्पन्न होता है। प्राचीन ऋषियों ने इस तथ्य का प्रत्यक्ष किया था, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण और क्षत्रिय को ईश्वर का भोज्य अन्न कहा है। वह समस्त चराचर जगत् का भक्षण करने वाला है (अत्ता चराचर ग्रहणात्—ब्रह्मसूत्र)। यहाँ तक कि वह मृत्यु का भी भक्षण करता है[1]। उसका नाम महारुद्र, महाकाल है, उसकी शक्ति महाकाली कहलाती है। यूनान देशीय विद्वान् हिरेक्लीटस कहता है कि युद्ध समस्त वस्तुओं का जनक है, युद्ध सब का राजा है। जर्मन देशीय विद्वान् नीट्शे कहता है कि युद्ध जीवन का एक अंग है और आदर्श मनुष्य वह है जो कि योद्धा है।

संसार में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं जो सनातन से परस्पर में युद्ध किया करती हैं। इनमें से एक शक्ति मनुष्य को अहङ्कार, कामना, स्वार्थ, लोभ, भोग, विलासिता, संकीर्णता, अज्ञान, असत्य, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि की ओर प्रवृत्त किया करती है। दूसरी शक्ति उसे निःस्वार्थता उदारता, त्याग, परोपकार, यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, ज्ञान, सत्य, दया, क्षमा, प्रेम, मित्रता आदि की ओर प्रवृत्त करती है। पहली शक्ति को आसुरिक और दूसरी को दैवी कहा जाता है। जो मनुष्य अपने-आपको पहली शक्ति के समर्पण करके इसके दास होते हैं उन्हें असुर, अनार्य, दस्यु, दुर्जन, आततायी और जो दूसरी शक्ति के समर्पण करते हैं उन्हें देव, सुर, आर्य, साधु, सज्जन कहा जाता है। पहली श्रेणी के मनुष्यों का स्वरूप बतलाते हुए गीता ने कहा है कि उनमें शौच, आचार, सत्य नहीं होता। वे अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, मान, दंभ, मद का आश्रय लेकर भोग के लिए अन्याय से धन का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। वे उग्र कर्म करने वाले होते हैं, मानो जगत् का क्षय करने के लिये ही वे यहाँ उत्पन्न होते हैं[2]। ऐसे मनुष्यों को आततायी भी कहा

१. यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनम् ।। कठोपनिषद् १।२।२५।

२. गीता अध्याय १६।

गया है और मनु जी कहते हैं कि उन्हें सामने आते हुए देखकर बिना विचारे मार डालना चाहिए। उनकी हत्या करने वाले को कुछ भी दोष नहीं लगता[१]।

ऐसे मनुष्यों के साथ यदि प्रेम, कोमलता और सरलता का व्यवहार किया जाता है तो इसे वे दुर्बलता समझते हैं और उनका अहंकार और असुर-भाव और भी अधिक उग्र रूप धारण करता जाता है। हिरण्यकश्यप भक्त प्रह्लाद पर भाँति भाँति के अमानुषिक अत्याचार करता रहा और प्रह्लाद ने अपने ऊपर अत्याचार करने वाले के प्रति मन से भी अहिंसा या अहित का संकल्प नहीं किया, अपितु जो इस कर्म में मर गये थे उन्हें अपनी प्रार्थना के बल से जीवित कर दिया; परन्तु इससे हिरण्यकश्यप के अत्याचार लेशमात्र भी कम नहीं होते अपितु बढ़ते ही जाते हैं। उसके अत्याचार तभी बन्द होते हैं जबकि नृसिंह भगवान् के द्वारा उसका संहार हो जाता है। "सर्वे भवन्तु सुखिन:" इस मन्त्र का जप करने वाले और समस्त विश्व का कल्याण चाहने वाले, एकांत अरण्य में तप करने वाले ऋषि शान्ति-पूर्वक रावणादि राक्षसों के अत्याचारों को सहन करते रहे, यहाँ तक कि उनसे रक्त के रूप में कर ग्रहण किया गया और उनकी हड्डियों के पर्वत खड़े कर दिये गये, परन्तु उनकी शान्ति और अहिंसकता से रावण के अत्याचार कम नहीं होते और न उसकी प्रकृति में ही कोई सुधार होता है। ब्रह्मर्षि वसिष्ठ पूर्णतया अहिंसक बने रहकर विश्वामित्र के अत्याचार सहन करते रहे परन्तु इससे उसके अत्यचार कम नहीं होते, अन्त में उन्हें भी उसकी सेना का संहार करना पड़ा।

दैवी और आसुरी शक्तियों का यह संग्राम साधारणतया तो सदा ही हुआ करता है और यह केवल बाहरी क्षेत्र में, स्थूल युद्ध के रूप में ही नहीं होता अपितु आन्तरिक और मानसिक क्षेत्र में भी हुआ करता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने भीतर काम, क्रोध, आदि शत्रुओं से संग्राम करना पड़ता है। भौतिक वैज्ञानिकों को अपने तथ्यों की स्थापना करने के लिए ईसाई धर्म के अन्ध-विश्वासों के साथ संग्राम करना पड़ा और उनके द्वारा अनेक प्रकार के अत्याचार

---

१. मनुस्मृति ॥८।३५०,३५१॥

सहन करने पड़े। शङ्कराचार्य को वैदिकधर्म की स्थापना करने के लिये बौद्ध मत के साथ संग्राम करना पड़ा। परन्तु कभी कभी राष्ट्रों और जातियों के इतिहास में ऐसे अवसर भी आ जाते हैं जबकि यह संग्राम बहुत स्थूल और व्यापक रूप धारण कर लेता है। ऐसे अवसरों पर असुर लोग अत्यन्त बलवान होकर सत्य, धर्म, न्याय और साधु पुरुषों को पद-दलित करने में बहुत कुछ सफल हो जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे इनका समूल नाश कर डालेंगे। ऐसे अवसरों पर प्रत्येक सत्य, धर्म और न्याय से प्रेम करने वाले मनुष्य का कर्त्तव्य होता है कि असुरों का विनाश करने के लिए शस्त्रग्रहण करे[1] और अपनी शक्ति के अनुसार इस धर्म-युद्ध में बलि प्रदान करे। जिस देश और जाति के मनुष्य ऐसे अवसरों पर साहस, संगठन, त्याग, बलिदान और वीरता का परिचय देते हैं वे विजयी होते हैं और चिरजीवी रहकर उन्नति करते हैं। जो कायरता और स्वार्थपरायणता, पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और कलह के दास होते हैं वे पराजित होकर दूसरों से पद-दलित होते हैं और अपने धर्म, संस्कृति और कीर्ति को खोकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को दृष्टि में रखकर ही गीता ने कहा है कि वे न इस लोक में सुख पाते हैं और न परलोक में :

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥४।३१॥

अहिंसा के पक्षपाती इस विषय में यह कह सकते हैं कि युद्ध में धर्मपक्ष वालों की ही विजय हो यह अनिवार्य नहीं है। इसमें दोनों पक्षों की ही हानि होती है। इसलिए अहिंसा-मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि यदि अहिंसात्मक उपाय से कार्य सिद्ध हो सकता हो तो अवश्य उसका ही अवलम्बन करना चाहिए। परन्तु यह सदा सम्भव नहीं होता। बहुत सम्भव है कि भविष्य में वह युग आ जाय—और मानव-विकास-क्रम के अनुसार वह अवश्य आना चाहिए—जबकि मनुष्य अहिंसक बना रहकर शान्तिपूर्वक उन्नति करले, परन्तु गीता के समय तक वह युग नहीं आया था और न अभी तक वह पूरी तरह आया है। यदि ऐसा होता तो राम और कृष्ण जैसे

---

१. शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ मनस्मृति ८।३४८॥

महापुरुष जोकि किसी भी युग के मनुष्यों से कम बुद्धिमान् नहीं कहे जा सकते— इस मार्ग का अवलम्बन न करते। इस धर्मार्थ युद्ध में जबकि प्रेम और अहिंसा के साधन अनुपयोगी हो जाते हैं तो यदि धर्म पक्ष की पराजय और अधर्म पक्ष की विजय होने की सम्भावना हो तब भी अपना कर्त्तव्य समझकर युद्ध करना चाहिए। कारण, यदि इस धर्म-युद्ध में अधर्म पक्ष वाले विजय प्राप्त करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वे सदा विजयी बने रहेंगे। यदि ऐसा होता तो हिरण्यकश्यप, रावण, कंस आदि असुर पृथ्वी पर लेशमात्र भी धर्म न रहने देते उनकी विजय उनके समूल नाश का कारण होती है। जैसा कि मनुजी कहते हैं :

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलं तु विनश्यति ।।४।१७४।।

"अधर्म से पहले मनुष्य वृद्धि करता है फिर अनुकूल अनुकूल शुभों को देखता हैं, फिर शत्रुओं को जीतता है और फिर मूल के सहित नष्ट हो जाता है"। असुरों की इस विजय और वृद्धि का कारण विश्व का कुछ ऐसा नियम प्रतीत होता है कि इसमें प्रत्येक दोष अपना विकास करके नष्ट होता है। साधारण बोल-चाल में इसे यों कह सकते हैं कि पाप का घड़ा भर कर डूबता है।

इसके विपरीत दूसरी ओर धर्म पक्ष वाले यदि कभी पराजित होते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनकी सदा के लिए पराजय हो गई है और धर्म का नाश हो गया। कारण, धर्म इस विश्व का आधार है और वही इसका लक्ष्य है, उस ओर ही यह गति कर रहा है :

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा"

इस धर्म-युद्ध में कुछ थोड़े से व्यक्तियों के ही शुद्ध भाव से किये गये त्याग और बलिदान का प्रभाव इतना अधिक होता है कि दूसरे धार्मिक मनुष्य कई गुनी संख्या में उनके उदाहरण से साहस प्राप्त करके अधिकाधिक शक्ति का संचय

करते रहते हैं और उस समय तक इस धर्म-युद्ध को बढ़ाते रहते हैं जब तक कि उस बढ़ी हुई आसुरिक शक्ति का विनाश नहीं हो जाता। धर्मपक्ष वालों की पराजय तो भय और कायरतावश युद्ध न करने में ही है। कारण, इस भय और कायरता का कारण होता है अपने व्यक्तिगत शरीर, धन, परिवार का मोह, स्वार्थ, लोभ, आसक्ति आदि। इससे परस्पर में ईर्ष्या, द्वेष और कलह उत्पन्न होते हैं जिसका परिणाम होता है असङ्गठन, शिथिलता, सामूहिक बल का ह्रास। भगवान् के भक्तों को इन सब दोषों का परित्याग करना चाहिए तभी उनकी गति आगे बढ़ती है और, कभी कभी इस कार्य के लिये ही साधन रूप में भगवान् की ओर से युद्ध उपस्थित किये जाते हैं। ऐसे अवसरों पर युद्ध करना ही कर्त्तव्य और धर्म होता है और न करना ही पाप और अधर्म होता है।

महाभारत का युद्ध भी इसी प्रकार का अवसर हैं। दुर्योधन ने अपने भाई भीम को विष देकर मारने का प्रयत्न किया, पांडवों को लाख के मकान में जलाने का षड्यन्त्र रचा, जूए में छल से उनके राज्य का अपहरण कर लिया, उनकी प्रियतमा महाराणी द्रौपदी को बाल पकड़ कर सभा में मंगाया और वहाँ नग्न करने का प्रयत्न किया, उन्हें तेरह वर्ष वनों में भाँति भांति के कष्ट भोगने को विवश किया। इसलिये गीता में उन्हें आततायी लोभोपहत-चेतस, दुर्बुद्धि और मित्रद्रोही कहा गया है। श्रीकृष्ण ने जिन्हें कि महाभारत में महामति, महाप्राज्ञ कहा गया है, हर सम्भव उपाय से मेल कराने का प्रयत्न किया। उन्होंने पांडवों के लिये केवल पाँच गाँव माँगकर परस्पर मेल कराना चाहा, परन्तु लोभी दुर्योधन उत्तर देता है :

यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या विद्धयदग्रेण केशव ।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान् प्रति ॥

महाभारत उद्योग पर्व १२७।२५॥

सुई की नोक से जितनी भूमि बींधी जा सकती है उतनी भूमि भी हम पांडवों को नहीं देंगे। जब दुर्योधन के अहङ्कार और लोभ में लेशमात्र भी कमी नहीं

आती और सन्धि के सभी प्रयत्न व्यर्थ होते हैं तो श्रीकृष्ण निराश लौट आते हैं और पांडवों की माता कुन्ती को यह सब समाचार सुनाते हैं। माता कुन्ती वीर क्षत्राणी के धर्म का अनुसरण करती हुई अपने पुत्रों के पास यह सन्देश भेजती है :

युध्यस्व राजधर्मेण मा निमज्जीः पितामहान्।
मा गमः क्षीणपुण्यस्त्वं सानुजः पापिनां गतिम् ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।
न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः ॥

महाभारत उद्योग पर्व

हे युधिष्ठिर ! "अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुये युद्ध करो। ऐसा न करने पर तुम्हारे पूर्वजों की अपकीर्ति होगी और तुम (मानो) उन्हें (नरक में) डुबा दोगे, ऐसा मत करो। युद्ध न करने पर तुम्हारा पुण्य क्षीण हो जायगा और तुम अपने भाइयों के सहित उस गति को प्राप्त होगे जोकि पापी मनुष्यों को मिला करती है। ऐसा मत करो। जिस प्रयोजन के लिए क्षत्राणी सन्तान उत्पन्न किया करती है उसे पूरा करने का समय आ गया है। श्रेष्ठ मनुष्य वैर-भाव के उपस्थित होने पर कष्ट का अनुभव नहीं किया करते।"

जब लोभी दुर्योधन की स्वार्थपरायणता में लेशमात्र भी कमी नहीं आती और सन्धि के समस्त प्रयत्न विफल होते हैं तो दोनों ओर से युद्ध की तैयारी होती है। दोनों ओर की सेनायें कुरुक्षेत्र के मैदान में युद्ध के लिये उपस्थित होती हैं। अर्जुन के परम सखा भगवान् श्रीकृष्ण सारथि हैं। अर्जुन अपने रथ पर सवार होकर युद्ध-भूमि में प्रवेश करता है। वहाँ दोनों ओर की सेनाओं में अपने गुरु, पितामह, मामा, श्वसुर और बन्धु-बांधवों को देखकर उसके मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि युद्ध में ये सब मारे जायंगे और जाति-धर्म नष्ट हो जायगा, इसका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर होगा और हम ही पापी और नरकगामी होंगे। अतः वह युद्ध का परित्याग करना चाहता है। श्रीकृष्ण इसे अर्जुन की दुर्बलता समझकर उसकी भर्त्सना करते हुए कहते हैं :

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ।।२।२।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।२।३।।

हे अर्जुन इस प्रकार का भाव इस अवसर के लिये उपयुक्त नहीं है । यह तुम्हारा दोष है । यह आर्योचित नहीं है, अनार्य है, स्वर्ग को ले जाने वाला नहीं है. अपकीर्त्ति करने वाला है । यह तुम्हारी क्लीवता है, हृदय की क्षुद्रता और दुर्बलता है । तुम तो शत्रुओं को पीड़ित करने वाले परंतप हो, तुम्हारे लिए ऐसा करना उचित नहीं है । अपनी इस दुर्बलता का परित्याग करके उठो (और युद्ध करो) ।

यहाँ अर्जुन को क्लीव कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि वह विपक्षियों की अधिक सेना को और उसके वीर महारथियों को देखकर भयभीत हो गया है और इसलिए अपने प्राण बचाने के लिए युद्ध से भागना चाहता है । कारण, उसे उस समय यह पूरा विश्वास है कि श्रीकृष्ण के सहायक होते हुए वह अकेला ही कौरवों की समस्त सेना का संहार कर सकता है[1] । उसकी त्रुटि यह है कि उसकी बुद्धि धर्म-संकट में पड़ी है और मोहवश कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सकी है । ऐसे अवसर पर श्रीकृष्ण ने उसके मोह को दूर करते हुए उसके क्षत्रिय-धर्म की स्मृति कराई है ।

साधारण भाषा में दया और कृपा को समानार्थक माना जाता है । "आपकी दया से यह कार्य हुआ' "आपकी कृपा से यह कार्य हुआ," यहाँ इनमें कोई भेद नहीं जान पड़ता । परन्तु गीता ने इनमें भेद किया है । उसने अर्जुन के इस मोह को कृपा और कार्पण्य[2] कहा है, दया नहीं कहा । गीता के अनुसार दया एक सात्त्विक और दिव्य गुण है, परन्तु कृपा में तामसिकता रहती है ।

---

१. हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् ।।

महाभारत उद्योग पर्व १६४।१०।।

२. कृपया परयाविष्टः (१।२७) कार्पण्यदोषोपहस्तवभावः (२।७) ।

दया वह होती हैं जो कि साधु के हृदय में दूसरों की भलाई करने का, ज्ञानी के हृदय में अज्ञानियों को ज्ञान देने का, धनी के हृदय में भूखों, नंगों, दीन दुखियों को तथा सामाजिक हितकारी कार्यों में अपने धन का दान करने का रूप धारण करती है, आर्य-क्षत्रिय के हृदय में यही दया जहाँ निर्बल की रक्षा करने का रूप धारण करती है साथ ही बलवान् अत्याचारी के साथ युद्ध करने और उसका संहार करने का भी रूप धारण करती है। यदि बलवान् मनुष्य किसी निरपराधी पर अत्याचार होते देखकर समर्थ होते हुये भी उसे इस कारण रोकने का प्रयत्न नहीं करता कि वह उसका बन्धु है और उसे रोकने में उसे पीड़ा पहुँचेगी तो वह अप्रत्यक्ष रूप ने उसके अत्याचार में सहायता करता है। यह दया नहीं है अपितु निर्दयता है, क्रूरता है। अथवा जैसे कोई डाक्टर अपने किसी बन्धु के शरीर में फोड़ा देखकर इसलिए आपरेशन नहीं करता कि इससे उसके शरीर को कष्ट पहुँचेगा। वास्तव में यह दया नहीं है, मोह है, कार्पण्य[1] है, स्नायविक दुर्बलता है, हार्दिक क्षुद्रता और क्लीबता है, यह आर्य कर्म नहीं है अनार्य कर्म है।

अर्जुन आर्य क्षत्रिय है। वह अपने समय का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर और वीर माना जाता है[2]। स्वयं भगवान् उसके रथ पर सारथि रूप में विद्यमान हैं। दिव्य धिनुष,दिव्य रथ, दिव्य पताका, दिव्य शङ्ख उसके पास हैं। वह स्वयं देवता का अंश (इन्द्रतनय) है देवताओं ने अपना एक महान् कार्य करने के लिये उसे पृथ्वी पर भेजा है। उसके सामने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में धर्म का विरोध करने वाले लाखों क्षत्रिय उपस्थित हैं। उसे युधिष्ठिर, भीम आदि भाइयों न और दूसरे लाखों वीर क्षत्रियों ने धर्म की रक्षा के लिए लड़े जाने वाले इस

---

१. महाभारत आदि ग्रन्थों में कृपण शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसे :

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यां मरणं भवेत्।
विसृजन्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्।। शान्ति ९७।२३।।

२. धनुर्धराणां प्रवरः सर्वेषामेकपूरुषः। महाभारत

युद्ध में अपना प्रधान सेनानायक बनाया हुआ है। उनकी समस्त आशायें उस पर ही केन्द्रित हैं। ऐसी स्थिती में उसका यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह विपक्षियों को बन्धु समझकर मोहवश युद्ध का परित्याग करदे और सत्य, न्याय और धर्म की पताका को लेकर चलने वाले, इस धर्म-यज्ञ में आत्माहुति देने के लिए तैयार लाखों वीरों को अत्याचारियों से पद-दलित होने दे। उसका कर्त्तव्य केवल यह है कि उसके क्षत्रिय स्वभाव के द्वारा जो भगवान् का आदेश है उसे सुने और अधर्म, अन्याय का पक्ष लेने वाले जो व्यक्ति मानवजाति की उन्नति में बाधा डाल रहे हैं उनके साथ युद्ध करे और उनका संहार करके इस बाधा को दूर हटा दे।

यदि अर्जुन इस अवसर पर युद्ध का परित्याग कर देता है तो दूसरे क्षत्रिय यह समझेंगे कि वह अपने विपक्ष में अधिक वीर महारथियों और अधिक संख्यक सैनिकों को देखकर भयभीत हो गया है और इस कारण युद्ध से जान बचाकर भाग गया है। स्वयं महाभारत में इस प्रकार की घटना के अनेक उदाहरण मिलते हैं। युद्ध के प्रारम्भ में जिस समय युधिष्ठिर समस्त शस्त्रास्त्रों का परित्याग करके आशीर्वाद लेने के लिये भीष्म, द्रोण आदि के पास जाता है तो कौरव पक्ष के सैनिक उसे भय से शरण में आता हुआ मानकर धिक्काते हैं[1]। जब कर्ण के साथ युद्धके समय घायल हुए युधिष्ठिर को उसका सारथि शिविर में ले जाता है और अर्जुन उनकी कुशल पूछने वहाँ जाता है तो युधिष्ठिर उसे कर्ण के भय से युद्ध से भागा हुआ समझकर धिक्कारते हैं[2]। अतः अर्जुन के युद्ध परित्याग करने पर जब वीर क्षत्रिय उसे कायरतावश युद्ध से भागा हुआ समझेंगे तो इससे उनमें कायरता और दुर्बलता आ जायगी। क्षत्रिय-धर्म का जो यह

---

१. व्यक्तं भीत इवाभ्येति राजासौ भीष्मगन्तिकम्।
युधिष्ठिरःस सोदयः शरणार्थ प्रयाचकः ।। भीष्म पर्व ४३।२७ ।।

२. खड्गं गृहीत्वा हेमपट्टानुबद्धं धनुश्वेदं गांडिवं तालमात्रम्।
स केशवेनोह्यमानः कथं त्वं कर्णाद्भीतो व्यपयातोऽसि पार्थ ।।
कर्ण पर्व ६५।२६

आदर्श है कि अपने शरीर, स्त्री, सन्तान, परिवार, धन, घर सुख, भोग आदि के मोह में न फंसकर देश, धम और जाति की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए सदा तत्पर रहना—इससे वे च्युत हो जायेंगे। उनमें क्षत्रियोचित उत्साह, साहस और वीरता नहीं रहेंगे। वे सत्त्व-गुण की ओर गति करने के बजाय तमोगुण में, तामसिक दुर्बलता और अकर्मण्यता में गिर जायंगे और यह अधःपतन बढ़ते बढ़ते उस जाति के विनास का कारण होगा। यदि कोई साधारण सैनिक युद्ध का परित्याग करदे तो उससे कोई विशेष हानि नहीं होती, परन्तु अर्जुन जैसे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ सेनानायक की भूल से तो ऐसा परिणाम होने की पूरी सम्भावना है। सेनानायकों की छोटी छोटी भूलें किस प्रकार देश और जाति के लिए घातक सिद्ध होती हैं इसका उ ाहरण पृथ्वीराज और जयचन्द्र आदि मध्यकालीन राजाओं का इतिहास है। यह पृथ्वीराज का तामसिक मोह था, उसकी क्लीबता थी कि जो वह विदेशी आक्रांता को बार बार पराजित करके भी छोड़ता रहा और अन्त में उससे पराभूत, पददलित और अपमानित हुआ और समस्त आर्य जाति, आर्य धर्म और देश को विदेशी असुरों से पददलित होने का कारण बना। यह जचयन्द की क्षुद्रता थी जिसने अपने भाई का अपमानित कराने के लिए एक बिदेशी विधर्मी को आक्रमण करने का प्रोत्साहन दिया, देश, धर्म और जाति का विनाश होते देखकर स्वयं क्लीब के समान देखता रहा और अन्त में स्वयं भी नष्ट हुआ। ऐसी स्थिति में यदि वह पृथ्वीराज का पक्ष लेकर युद्ध करता तो संभवतः करोड़ों आर्यों को दीर्घकाल तक यह भीषण विपत्ति उठानी न पड़ती। ऐसे अवसरों पर पराजय होने की संभावना होने पर भी युद्ध करना ही धर्म होता है, जैसा कि राणा प्रताप और शिवाजी ने किया। इन सब भावों को दृष्टि में रखकर गीता ने अर्जुन को क्षत्रिय धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया है:

"हे अर्जुन अपने धर्म को देखकर भी तुम्हें युद्ध से विचलित नहीं होना चाहिए, कारण धर्म की रक्षा के लिए लड़े जाने वाले युद्ध की अपेक्षा क्षत्रिय के लिए और कुछ श्रेयस्कर नहीं है। ऐसा धर्म-युद्ध जो कि अनायास ही

प्राप्त हो जाय सीधा स्वर्ग के खुले द्वार के समान होता है और भाग्यशाली क्षत्रियों को ही प्राप्त होता है। यदि तू धर्म की रक्षार्थ इस युद्ध को नहीं करेगा तो अपने स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप का भागी होगा। पृथ्वी पर मनुष्य तेरी सदा के लिए बनी रहने वाली अकीर्ति कहा करेंगे। जो मनुष्य दूसरों में माननीय है, जिसके साहस, बल और वीरता की दूसरे मनुष्य प्रशंसा करते हैं उसे यदि वे कायर और दुर्बल कहने लगें तो यह उसके लिए मृत्यु से भी बुरा होता है। महारथी तुझे भय के कारण युद्ध-भूमि से भागा हुआ मानेंगे। तू उनका मानार्ह होता हुआ उनकी दृष्टि में लघुता को प्राप्त होगा। तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तेरे विषय में अनेक प्रकार के न कहने योग्य वचनों को कहेंगे। इससे अधिक दुखदाई बात और क्या हो सकती है? ऐसी स्थिति में युद्ध करना ही तेरा कर्त्तव्य है। यदि उसमें मारा जाता है तो स्वर्ग मिलेगा और यदि जीत जाता है तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा'' :

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥२।३७॥

गीता ने अर्जुन को जो यह क्षत्रिय धर्म का उपदेश दिया यह नैतिक और सामाजिक दृष्टि से है। यह इससे पहले कहे गये आत्मज्ञान की अपेक्षा और पीछे कहे जाने वाले कर्मयोग की अपेक्षा निकृष्ट कोटि का है। इसमें मान अपमान, कीर्ति अकीर्ति, राज्य, सुख, स्वर्ग आदि फल को और उसके सामाजिक कर्तव्य को दृष्टि में रखकर युद्ध की प्रेरणा है। अर्जुन अभी तक इन भावों से युद्ध करता रहा है। परन्तु इस युद्ध के अवसर पर इन भावों से युद्ध करने में उसे पाप जान पड़ता है। इस कारण गीता यह स्पष्ट कर देती है कि यदि अर्जुन इन भावों को निकृष्ट समझता है तो उसे इतना नीचे गिरने की आवश्यकता नहीं है। उसे अपने सुख-दुःख हानि-लाभ, जय-पराजय को सम मानकर केवल कर्तव्य भाव से युद्ध करना चाहिए। ऐसा करने से उसे पाप नहीं लगेगा। गीता ने आगे भी मान अपमान, सुख दुख, शत्रु मित्र आदि में समबुद्धि होने का आदेश दिया है। इस समत्व बुद्धि के साथ युद्ध करने पर वह युद्ध मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य आत्मा, परमात्मा, अमृतत्व की प्राप्ति का साधन

हो जाता है। इसलिए गीता ने इस धर्म का सांख्य के भीतर समावेश कर दिया है। (एषा तेऽभिहिता सांख्ये)।

श्री अरविन्द के शब्दों में आर्य क्षत्रिय का धर्म इस प्रकार है: "ईश्वर को जान, आत्मा को जान, मनुष्य की सहायता कर, न्याय की रक्षा कर। तू नित्य और अविनाशी आत्मा है, तेरा अन्तरात्मा इस जगत् में अमृतत्त्व के पथ पर ऊपर की ओर गति कर रहा है; जीवन और मरण तुच्छ हैं; शोक, घाव और दुःख तुच्छ हैं, कारण इन वस्तुओं को जीतना और अपने वश में करना होगा। अपने सुख और लाभ पर दृष्टि न रख अपितु ऊपर और चारों ओर देख; ऊपर उस प्रकाशमान शिखर को देख जिस ओर तू चढ़ रहा है; चारों ओर इस संग्राममय और परीक्षा-स्थल जगत् को देख जिसमें शुभ और अशुभ, उन्नति और अवनति घोर विरोध में एक साथ सम्बद्ध हैं। मनुष्य तुझे अपना बलवान् और नायक समझकर सहायता के लिए पुकार रहे हैं इसलिए उनकी सहायता कर, युद्ध कर। जबकि संहार से ही जगत् आगे बढ़ने वाला है तो संहार कर; परन्तु जिनका तू संहार करता है उनसे घृणा मत कर। सर्वत्र एकतम आत्मा को जान, सबको अमर आत्मा जान और शरीर को मिट्टी जान। शांत, दृढ़ और समभाव से अपने कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान कर; युद्ध कर और या तो उसमें उदारता के साथ मर या बल के साथ विजयी हो। यही तेरा कर्तव्य कर्म है जो कि भगवान् ने और तेरे स्वभाव ने तुझे अनुष्ठान करने के लिए प्रदान किया है।[1]

---

१. गीता प्रबन्ध, प्रथम भाग अध्याय ७।

सातवां परिच्छेद

बुद्धि-योग

योग शब्द का अर्थ है संयोग। यह संयोग है जीवात्मा और परमात्मा का :

"संयोगं योगमित्याहुः जीवात्मपरमात्मनोः"

गीता के दृष्टिकोण से जीवात्मा परमात्मा का एक अंश है जो कि यथार्थ में उससे एक और अविभक्त होते हुये भी विश्वलीला के लिए पृथक्सा[1] हो गया है। उस परमात्मा के साथ जीवात्मा के ऐसे संयोग को जिसमें वह अपने यथार्थ स्वरूप को, अपनी श्रेष्ठतम सम्भव अवस्था को पुनः प्राप्त करले 'योग' कहते हैं। अतः श्री अरविन्द ने योग का लक्षण निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

The yoga is the union of that which has become separated in the play of the universe with its own true self, origin and universality.

परन्तु योग शब्द का प्रयोग केवल इस संयोग-रूप, लक्ष्यभूत स्थिति के ही लिए नहीं होता। जिस किसी साधन से इस स्थिति को प्राप्त किया जाता है उसे भी योग कहते हैं और प्रायः इस अर्थ में ही योग शब्द का प्रयोग होता है। मनुष्यों की प्रकृति और रुचि में भेद होने के कारण ये साधन भिन्न भिन्न होते हैं। अतः योग भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे—हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, तन्त्रयोग, अध्यात्मयोग इत्यादि। हठयोग में स्थूल शरीर और प्राण की शक्ति का मुख्यतया उपयोग होता है, अतः इसमें आसन और प्राणायाम जैसी स्थूल क्रियायें मुख्य रूप में की जाती हैं। राजयोग में आसन और प्राणायाम आदि कुछ क्रियाओं के साथ-साथ, चित्त की क्रियायें

---

१. अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्। (गीता १३।१६)

भी उसके निरोध के लिये की जाती हैं। ज्ञानयोग में विचार और विवेक स्वभाव वाली बुद्धि-शक्ति का उपयोग मुख्यतया होता है। भक्तियोग में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम स्वभाव वाले हृदय की शक्ति का उपयोग विशेष रूप में होता है। कर्मयोग में अन्तःकरण की चिकीर्षा या कर्म करने की इच्छा-शक्ति प्रधान रहती है। तंत्रयोग में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण और शक्ति की उपासना मुख्य रहते हैं।

गीता का योग इन सभी योगों के सार को अपनाता है परन्तु वह इतना अधिक उदार और व्यापक है कि इनमें से किसी की भी सीमा में बद्ध नहीं है। वह हठयोग के आसन और प्राणायाम को कुछ सीमा तक स्वीकार करता है किन्तु उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य साधन नहीं मानता। यह राजयोग के यम, नियमादि आठ अङ्गों को अङ्गीकार करता है किन्तु इसमें ये उतना अधिक महत्त्व नहीं रखते जितना राजयोग में। गीता के योग में इनसे भिन्न और भी अनेक साधन माने गये हैं। यह राजयोग की संसार-ज्ञान-शून्य समाधि को अन्तिम और सर्वोच्च स्थिति नहीं मानता। यह ज्ञानयोग को अपनाते हुए भी इसके वाह्य संन्यास को अनिवार्य साधन और अक्षर ब्रह्म के साथ तादात्म्य को उच्चतम लक्ष्य या भूमिका नहीं मानता। यह भक्तियोग को अपनाता है किन्तु उसके द्वैतभाव और अकर्मण्यता का परित्याग कर देता है। गीता के योग में ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों का समन्वयपूर्वक समावेश है। इसमें अपने समस्त कर्मों को और उस सर्वस्व को जिसे हम अपना कह सकते हैं भगवान् के अर्पण किया जाता है, उसकी शरण ग्रहण की जाती है और उसके प्रसाद और शक्ति से इसका अनुष्ठान होता है, अतः इसे अध्यात्मयोग कहा जाता है।

कर्मयोग

गीता के योग में कर्म को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इसमें सिद्धि से पहले साधन रूप में और सिद्धि के अनन्तर लोक-संग्रहार्थ, दोनों अवस्थाओं में कर्म करने का आदेश है। अतः यह कर्म से प्रारम्भ होता है और

अन्त तक कर्म को साथ रखता है। गीता की दृष्टि में कर्म का इतना अधिक महत्त्व होने के कारण उसने कहीं कहीं योग का अर्थ ही कर्मयोग किया है (कर्मयोगेन योगिनाम्)।

गीता का कर्मयोग संक्षेप में इस प्रकार है—कामना का त्याग करना, कर्म फल में और कर्मों में आसक्त न होना, सिद्धि असिद्धि में, प्रिय अप्रिय घटनाओं में, समस्त वस्तुओं के प्रति और समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखना, अपने समस्त कर्मों को यज्ञरूप में ईश्वरार्पण भाव से करना, अहंकार का त्याग करना, फिर मुक्त होकर निष्काम कर्म करते हुये सर्वत्र एकमेव पुरुषोत्तम वासुदेव का दर्शन करना और उसके साधर्म्य में निवास करना।

इस कर्मयोग का मूल यजुर्वेद या ईशोपनिषद् के निम्नलिखित वचनों में उपलब्ध होता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा, मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

"इस जगत में जो कुछ भी सक्रिय पदार्थ है उस सबके भीतर और बाहर ईश्वर निवास करता है। अतः त्यागपूर्वक उसका सेवन करो। किसी के धन का लालच न करो। कर्म करते हुए ही इस जगत् में सौ वर्ष जीने की इच्छा करो। इस प्रकार, न कि इसके बिना, कर्म मनुष्य से लिप्त नहीं होता।" यहाँ संक्षेप में यह बतलाया गया है कि त्यागपूर्वक पदार्थों का सेवन करने से, लालच न करने से कर्म मनुष्य के लिए बन्धन का कारण नहीं होता। परन्तु त्याग क्या है, किसका त्याग है, लालच से कैसे बचा जाय, किस प्रकार के कर्म और किस विधि से हों कि जो वे बन्धन रूप न हों, इनका स्पष्ट वर्णन नहीं है। यह सब हमें गीता में विस्तारपूर्वक मिलता है। गीता में यजुर्वेद के त्याग शब्द के लिये अनेक स्थलों पर अनासक्ति शब्द का और लालच (गृध) के लिये काम शब्द का प्रयोग किया गया है।

गीता में कर्मयोग की चार भूमिकायें हैं—बुद्धियोग, यज्ञ, अहङ्कार का त्याग और मुक्त एवं दिव्य कर्म। बुद्धियोग का प्रतिपादन दूसरे अध्याय में 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु" (२।३९) से इस अध्याय के अन्त तक होता हैं। यज्ञ का वर्णन तीसरे और चौथे अध्यायों में किया गया है। अहङ्कार का त्याग तीसरे अध्याय में दिखलाया गया है। मुक्त और दिव्य कर्मों का स्वरूप चौथे अध्याय में है। गीता के अन्य अध्यायों में भी यत्र-तत्र इन विषयों पर भिन्न भिन्न रूपों में प्रकाश डाला गया है।

बुद्धियोग

बुद्धियोग का संक्षेप में अर्थ है—बुद्धि की वह क्रिया जोकि जीवात्मा को परमात्मा से युक्त कर सके। मनुष्य कम करते समय जिस प्रकार की भावना रखकर कर्म करता है उसका वैसा ही फल होता है। साधारणतया मनुष्य की बुद्धि लौकिक फलों की कामना से कर्म में प्रवृत्त होती है। अतः उसकी यह क्रिया बन्धन का कारण होती है। जिस समय वह इस कामना का त्याग करके परमात्मा की प्राप्ति के उद्देश्य से कर्म में प्रवृत्त होती है तो यह क्रिया मुक्ति और परमात्मा की प्राप्ति का साधन होती है। अतः बुद्धि की साधारण विषय-गामिनी और लौकिक फलों की कामना वाली क्रिया को मुक्ति और परमात्मा की ओर गतिशील बना देना बुद्धियोग है।

बुद्धियोग के महत्त्व को बतलाते हुए गीता ने कहा है कि यह कर्म-बन्धन से मुक्त करने वाला[1] है। बुद्धियोग भगवान् में तच्चित्त होने और उसके प्रसाद को प्राप्त करके सम्पूर्ण कठिनाइयों को पार करने का साधन[2] है। जो सज्जन सतत एकाग्र मन से प्रीतिपूर्वक भगवान् का भजन करते हैं उनको भगवान् अपनी

---

१. बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।।२।३९।।

२. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः समतं भव ।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।।१८।५८।।

कृपा से प्रसाद रूप में बुद्धियोग देते हैं जिससे वे उसे प्राप्त करते हैं[1]। अतः यह भगवान् की प्राप्ति का बहुत उत्तम साधन है।

बुद्धियोग में कृषि, यज्ञ आदि कर्मों की अपेक्षा यह विशेषता है कि वे प्रारम्भ करने पर या अनुकूल साधन न मिलने से या बीच में विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर कुछ भी फल नहीं देते। अनावृष्टि या अतिवृष्टि से या पशुओं के आक्रमण से कृषि नष्ट हो जाती है, बोया हुआ बीज और खेत जोतने का परिश्रम व्यर्थ जाता है। पुत्रेष्टि आदि यज्ञों में मन्त्रों के अशुद्ध उच्चारण से, किसी अङ्ग के छूट जाने से अथवा समय पर आवश्यक सामग्री न मिलने से या रोग, मृत्यु आदि से वह बीच में ही रुक जाता है और कुछ भी फल नहीं देता। कभी-कभी इनका हानिकर परिणाम भी हो सकता है। परन्तु बुद्धियोग में यह दोष नहीं हैं। अतः गीता कहती है :

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥२।४०॥

यहाँ प्रारम्भ किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता, इसमें कोई विघ्न-बाधा भी नहीं है। यदि कोई घटना विघ्नरूप प्रतीत होती है तो वह अन्त में सहायक ही सिद्ध होती है। यदि साधना करते समय सिद्धि से पहले मृत्यु हो जाय तो जितना भी इस योग का अनुष्ठान हुआ है वह संस्कार रूप में अगले जन्म में साथ रहता है और सिद्धि में सहायता करता है[2]। अतः इसका स्वल्प अनुष्ठान भी व्यर्थ नहीं

---

१. तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०।१०॥

२. तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥६।४३॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥६।४४॥
अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ।४५॥

जाता और साधक को महान् भय से मुक्त कर देता है। मनुष्य चाहे जितना भी सावधान होकर कर्म क्यों न करे तब भी पाप की सम्भावना बनी ही रहती है और इस कारण उसके भीतर कर्म के परिणाम-स्वरूप हानि, विपत्ति, रोग, मृत्यु आदि का भय, इस जगत् के जीवों से भय, दण्ड देने वाले ईश्वर से भय बना ही रहता है। इस भय का कारण है लौकिक विषयों में और शरीरादि में आसक्ति और जगत्, आत्मा और ईश्वर के यथार्थस्वरूप का अज्ञान। बुद्धियोग का अनुष्ठान करते हुये जब मनुष्य इस आसक्ति का परित्याग कर देता है और भगवान् को अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला और रक्षक[1] एवं कल्याणकारी सुहृद्[2] जानता है तो चाहे जैसे भीषण दुःख और विपत्तियों की सम्भावना क्यों न हो, वह लेशमात्र भी भयभीत नहीं होता। यह निर्भयता योग में पूर्ण-सिद्धि प्राप्त करने पर ही आये, यह बात नहीं है। योग की प्रारम्भिक अवस्था में यह शास्त्र और गुरु के वचनों में श्रद्धा से उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यह बहुत दुर्बल होती है। बुद्धियोग का अनुष्ठान करने पर यह दृढ़ विश्वास में परिणत हो जाती है और बहुत अधिक मात्रा में भय को दूर कर देती है।

साधना करते समय जबकि साधक कामना और द्वन्द्वमय जीवन से ऊपर उठने का प्रयास करता है तो प्रकृति की निकृष्ट शक्तियाँ उसे नीचे गिराने का प्रयत्न करती हैं। इस कारण उसे भीषण कठिनाइयों में से होकर चलना पड़ता है। योग का मार्ग छुरे की धारा पर चलने के समान कठिन है[3]। ऐसी परिस्थिति में उसे यह श्रद्धा और विश्वास ही योग-पथ पर स्थिर रख सकते हैं। यही कारण है कि जो गीता ने अनेक स्थानों पर प्रतिज्ञा-पूर्वक निश्चित रूप में आश्वासन दिया है। वह कहती है कि हे अर्जुन ! कल्याण-पथ के

---

१. योगक्षेमं वहाम्यहम्।

२. सुहृदं सर्वभूतानाम्।

३. क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

(कठोपनिषद् १।३।१४)

पथिक की इस लोक या परलोक में दुर्गति[1] नहीं होती। भगवान् का भक्त नष्ट नहीं होता[2]। भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि जो मुझ में मन लगाता है, मेरी भक्ति करता है, मेरे लिये यज्ञ करता है, मुझे नमस्कार करता है वह मुझे अवश्य प्राप्त होता है[3]। जो समस्त धर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी शरण करता है मैं उसे समस्त पापों से मुक्त कर देता हूँ[4]। इस प्रतिज्ञा-पूर्वक दिये गये आश्वासन का संकेत "त्रायते महतो भयात्" इस वचन में किया गया है।

बुद्धि भारतीय दर्शनों के अनुसार अन्तःकरण का एक अंग है। अन्तःकरण के चार अङ्ग होते हैं—मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार। जब हम ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा किसी बाह्य वस्तु को प्रत्यक्ष करते हैं तो मन उस अनुभव को बुद्धि के समीप ले जाता है। जब तक वह ज्ञान मन की सीमा के भीतर रहता है तब तक वह अनिश्चित रहता है। अतः मन का लक्षण बतलाया गया है–'संशयात्मकं मनः' 'संकल्पविकल्पात्मकं मनः' इत्यादि। बुद्धि इस ज्ञान को निश्चित कर देती है और उस वस्तु के प्रति कर्तव्य-कर्म का भी निश्चय कर देती है। मन इस निश्चय को कार्य में परिणत करने के लिये कर्मेन्द्रियों को प्रवृत्त करता है। यह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों दोनों का अध्यक्ष है और इसका कार्य ज्ञान और कर्म दोनों हैं। अतः इसे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों[5] माना जाता है।

चित्त को हृदय भी कहा जाता है, इसका स्वभाव है किसी वस्तु को राग के साथ संप्रतीत करना (to feel), भावों के आवेश में बह जाना (Emotion) यदि कोई प्राणी या प.ार्थ अनुकूल या प्रिय जान पड़े तो उसके प्रति राग, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, कामना, लोभ, लालसा, स्पृहा, तृष्णा करने लगता है और उसकी

---

१. न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गति तात गच्छति। (६।४०)

२. कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति। (९।३१)

३. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (१८।६५)

४. सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८।६६)

५. एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्। (मनु० २।९२)

ओर आकृष्ट होता है। प्रतिकूल जान पड़ने पर उसके प्रति द्वेष, क्रोध, घृणा, भय, शत्रुता करता है और उससे दूर हटना और उसका परित्याग करना चाहता है। यह इन भावों से मन और बुद्धि को प्रभावित करता है। पूर्व अनुभव को स्मरण रखना[1] भी इसका कार्य है।

सांख्यशास्त्र के अनुसार बुद्धि का धर्म है निश्चय करना (अध्यवसायो बुद्धेर्धर्मः)। यह निश्चय दो प्रकार का होता है—ज्ञान और कर्म का। मन जब किसी वस्तु के ज्ञान को बुद्धि के पास ले जाता है तो बुद्धि उसे निश्चित कर देती है, इसे 'ज्ञानाध्यवसाय' कहते हैं और जब बुद्धि ज्ञेय वस्तु के प्रति ग्रहण या त्याग करने के लिये कर्त्तव्यकर्म का भी निश्चय कर देती है तो इसे 'कर्माध्यवसाय' (चिकीर्षा = will) कहते हैं। अतः बुद्धि के दो कार्य हैं ज्ञान और इच्छा (will)[2]।

यदि बुद्धि शुद्ध सात्त्विक और चित्त की अपेक्षा प्रबल होती है तो उचित या अनुचित का ठीक-ठीक विवेक करके निर्णय करती है। यदि रज और तमोगुण से मलीन है और चित्त इससे प्रबल है तो चित्त के राजसिक और तामसिक वेगों के वशीभूत होकर निर्णय करती है। अहंकार जो कि इन तीनों की क्रियाओं के पीछे रहता है, इस ज्ञान और इच्छा का आत्मा से तादात्म्य सम्बन्ध करा देता है और उसमें शरीर, इन्द्रिय, मन, धन, सम्पत्ति आदि के प्रति 'मैं' और 'मेरा' भाव उत्पन्न करता है जिससे अभिमान[3], अहंमन्यता, दम्भ आदि उत्पन्न होते हैं।

---

१. It receives all impacts and it stores them in an immense reserve of passive subconscient memory. (Synthesis of yoga Ch. I. II.)

२. Will and Knowledge are the two functions of the Buddhi (Essays on the Gita 1. 10)

३. मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥

सांख्यशास्त्र में चित्त और मन का भेद नहीं है। इसमें मन ही चित्त के समस्त व्यापार को करता है। पातंजल योग में चित्त शब्द मन, चित्त और बुद्धि इन तीनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

परन्तु यह वर्णन मन, चित्त और बुद्धि के केवल स्थूल उन रूपों का है जिनसे ये स्थूल विषयों का ज्ञान करते है। इनसे आत्मा जैसे सूक्ष्म तत्त्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः उपनिषदों ने इसके विषय में इस प्रकार कहा है :

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वागच्छति नो मनः। (केन० १।३)

वहाँ चक्षु और वाक् आदि इन्द्रियों की पहुँच नहीं है और न मन की :

बुद्धिश्च न विचेष्टति। (कठ० २।३।१९)

वहाँ बुद्धि की क्रियाँ बन्द हो जाती है।

न मनसा प्राप्तुं शक्यः। (कठ० २।३।१२)

वह मन से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

इन स्थूल रूपों के अतिरिक्त इनके सूक्ष्म रूप भी होते हैं, जिनसे आत्मा का साक्षात्कार होता है और जिनके विषय में इस प्रकार कहा गया है :

मनसैवेदमाप्तव्यम्। (कठ० २।४।११)

यह केवल मन से ही प्राप्त किया जा सकता है।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः (कठ० १।३।१२)

सूक्ष्मदर्शी लोग सूक्ष्म-बुद्धि के द्वारा इसका दर्शन करते हैं।

सांख्य ने पहली बुद्धि को भोग की ओर प्रवृत्त होने वाली और दूसरी को विवेक-ख्याति करने वाली माना है। पातंजल योग ने इस स्थूल बुद्धि (मन और चित्त) की प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच वृत्तियाँ मानी हैं। इसके अतिरिक्त, उसने एक ऋतंभरा प्रज्ञा भी मानी है जिससे सूक्ष्म-तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होता है। इससे भी ऊपर उसने वृत्तिहीन शुद्ध चित्त (बुद्धि) की वह अवस्था मानी है जिसमें आत्मा का शुद्ध प्रतिबिम्ब पड़ता है और विवेक-ख्याति होती है। श्री अरविन्द ने इस उच्चतम बुद्धि से ऊपर इसका

वह रूप माना है जिसे उन्होंने विज्ञान या अतिमन (Supermind) कहा है। वह अभी तक हममें सुषुप्त है। इसे अपने भीतर जागृत करना और इसके द्वारा समस्त मन, प्राण और देह का दिव्य रूपान्तर करना, मानव सत्ता और जीवन को दिव्य बनाना इनके योग का मुख्य उद्देश्य है।

गीता में मन और चित्त शब्द प्रायः समानार्थक हैं। कहीं कहीं चित्त शब्द मन, चित्त और बुद्धि इन तीनों के लिये भी प्रयुक्त होता है। कहीं चित्त के लिये चेतस् शब्द भी आता है, परन्तु चेतस् शब्द में चेतना के भाव की झलक भी किसी किसी स्थल पर रहती है। यहाँ बुद्धि शब्द का प्रयोग प्रायः सांख्य से मिलता-जुलता है। प्रत्यक्ष-निर्णय, बोध, विवेक, विचार, लक्ष्य-निर्धारण, कर्म-निर्धारण ये सब बुद्धि के कार्य हैं[1]।

पहला अंग

बुद्धि को व्यवसायात्मिका करना

बुद्धियोग का पहला अंग है बुद्धि को व्यवसायात्मिका करना। व्यवसाय शब्द का अर्थ है निश्चय। जैसा कि पहले कहा जा चुका है साधारणतया बुद्धि का कार्य है—घट आदि वस्तुओं के प्रत्यक्ष ज्ञान का और उनके प्रति कर्त्तव्य कर्म का निश्चय करना (ज्ञानाध्यवसाय और कर्माध्यवसाय)। परन्तु 'व्यवसायात्मिका' बुद्धि यहाँ ये शब्द ऊंचे अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ व्यवसाय शब्द का अर्थ है—मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य का और उसके लिये आवश्यक का निश्चय करना और उस पर दृढ़ रहना (persistence)। कठोपनिषद् में

---

(1) The word Buddhi is used by the Gita in a large philosophical sense for the whole action of the discriminating and deciding mind which determines both the direction and use of our thoughts and the direction and use of our acts; thought, intelligence, judgement, per-ceptive choice and aim are all included in its functioning. (Essays on the Gita 1. 10).

में बतलाया गया है कि मानव जीवन एक यात्रा के समान है जिसमें आत्मा यात्रा करने वाला रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, इन्द्रियाँ अश्व हैं, मन लगाम है और इस यात्रा का लक्ष्य है भगवान् का परमपद[1] (तद्विष्णोः परमं पदम्)। सुचारु रूप में यात्रा पूरी होने के लिये यह आवश्यक है कि सारथि को लक्ष्य और मार्ग का ठीक-ठीक ज्ञान हो और साथ ही लगाम को ठीक प्रकार पकड़ने और उसके द्वारा अश्वों को ठीक मार्ग से ले जाने की कुशलता और दृढ़ता हो। यदि सारथि में इनमें से किसी एक गुण की भी कमी होगी तो यात्रा पूरी न होगी या बहुत कष्ट-प्रद होगी। लक्ष्य अथवा मार्ग का ज्ञान न होने पर वह यात्री को ठीक स्थान पर नहीं ले जा सकेगा। यदि लगाम और अश्वों पर कुशलता और दृढ़ता के साथ संयम नहीं है तो अश्व उसे कहीं भी गड्ढे में गिरा सकते हैं। मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य भगवान् के परमपद को प्राप्त करने के लिए भी आवश्यक है कि बुद्धि-रूपी सारथि को इस लक्ष्य का और इसके लिये आवश्यक मार्ग का ज्ञान हो और मन-रूपी लगाम और इन्द्रिय-रूपी अश्वों पर संयम रखते हुये इन्हें ठीक मार्ग से ले जाने की कुशलता और दृढ़ता हो। इस प्रकार की बुद्धि विज्ञानवान् कही गई है। इसके विपरीत बुद्धि अविज्ञानवान् होती है जो कि आत्मा-रूपी रथी को संसाररूपी गड्ढे में गिराकर विपद्ग्रस्त कर देती है। गीता के शब्दों में पहली बुद्धि व्यवसायात्मिका और दूसरी अव्यवसायात्मिका है।

दूसरे शब्दों में कठोपनिषद् के अनुसार बुद्धि (मति) के दो प्रवाह होते हैं— श्रेय की ओर और प्रेय की ओर। इन्हें विद्या और अविद्या भी कहा जाता है। दीर्घ आयु वाले स्त्री, पुत्र, पौत्र एवं बहुत अधिक संख्या में पशु, हस्ति, अश्व तथा बहुत अधिक परिणाम में धन, भूमि आदि लौकिक विषयों की और स्वर्गादि सुख-भोगों की कामना करना और इन्हें प्राप्त करने के लिये कर्म करना प्रेय या अविद्या मार्ग है। इन समस्त विषयों और सुख-भोगों को अनित्य और दुःखमय जानकर इनका परित्याग करना और इनसे ऊपर जो नित्य तत्त्व आत्मा, अक्षर, ब्रह्म, विष्णु है उसकी अभीप्सा करना और उसे प्राप्त करने के

---

१. कठ—१।३।३…९।

लिए आवश्यक मार्ग पर चलना श्रेय या विद्या है। बुद्धि का प्रेय मार्ग में जाना ऐसा बतलाया गया है जैसा कि अन्धे के पीछे अन्धे का चलना[1]। इस प्रकार की बुद्धि वाले मनुष्यों को बार बार मृत्यु का ग्रास होना पड़ता है (पुनः पुनर्वशमापद्यते मे)। श्रेय मार्ग में बुद्धि के प्रवाह का परिणाम होता है मुक्ति (मृत्युमुखात्प्रमुच्यते)। गीता के शब्दों में यह श्रेय या विद्या मार्ग की ओर जाने वाली बुद्धि व्यवसायात्मिका है और प्रेय या अविद्या मार्ग की ओर जाने वाली अव्यवसायात्मिका है।

पातंजल योग के अनुसार चित्त (बुद्धि) रूपी नदी के दो प्रवाह होते हैं—कल्याण की ओर और पाप की ओर। जो बुद्धि अविवेक-पूर्वक संसार के विषयों की ओर जाती है वह पापवहा है तथा जो विवेकपूर्वक कैवल्य की ओर जाती है वह कल्याणवहा है। इस मत के अनुसार वैराग्य द्वारा विषय-स्रोत को सुखाना चाहिये और विवेक-दर्शन के अभ्यास के द्वारा उसे कल्याण-मार्ग में प्रवाहित करना चाहिये[2]। गीता के शब्दों में यह कल्याणवहा बुद्धि व्यवसायात्मिका और पापवहा बुद्धि अव्यवसायात्मिका है और वैराग्य तथा विवेक-दर्शनाभ्यास के द्वारा इसके प्रवाह को बदलना इसे व्यवसायात्मिका करना है।

इन दो बुद्धियों का भेद और भी अधिक स्पष्ट करते हुए गीता ने कहा है कि व्यवसायात्मिका बुद्धि एक होती है और अव्यवसायात्मिका अनन्त और अनेक शाखाओं वाली होती है। एक का अर्थ है एकाग्र। एकाग्र होने का अर्थ यह नहीं है कि वह सर्वदा पातंजल योग की निर्बीज समाधि में स्थित रहती है और कुछ भी लौकिक ज्ञान उसमें नहीं रहता। इसका अर्थ यह है कि उसका

---

१. अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ कठोपनिषद् १।२।५॥

२. चित्तनदीनामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसार-प्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तद् वैराग्येण विषयस्रोतः खिली क्रियते विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाटयते।

(व्यास भाष्य १।१२)

एक सुनिश्चित लक्ष्य होता है, वह है आत्मा, ब्रह्म, परमात्मा, मोक्ष और वह इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आवश्यक मार्ग पर स्थिर रहती है। वह अनेक प्रकार के यज्ञ, कृषि, व्यापार, युद्धआदि कर्मों को करा सकती है, परन्तु वे कर्म इस प्रकार से नहीं किये जाते कि परम लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक हों। वे निष्काम, अनासक्त और भगवदर्पणादि उच्च भावनाओं के साथ किये जाते हैं जिससे वे इस परम लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक होने के बजाय सहायक ही होते हैं। अतः यह बुद्धि एकमात्र परमलक्ष्य में और उसके लिये आवश्यक योग-मार्ग में स्थिर और दृढ़ होने के कारण एक[1] या एकाग्र कही गई है। कुछ टीकाकारों ने एक का अर्थ किया हैं एकनिष्ठा वाली[2]। यहाँ भी तात्पर्य वही है।

इसके विपरीत दूसरी अव्यवसायात्मिका बुद्धि का आत्मा, परमात्मा, मोक्ष-रूप लक्ष्य जो कि मानव जीवन का एकमात्र परमलक्ष्य है, नहीं होता। वह धन, स्त्री, पशु, भूमि आदि लौकिक और अन्य स्वर्गादि विषयों को ही एकमात्र सुख समझती है। इनसे उत्कृष्ट भी कोई दूसरा सुख हो सकता है यह वह नहीं जानती (नान्यदस्तीति वादिनः)। अतः वह इनकी ही कामना करती है (कामात्मानः) और इन्हें प्राप्त करने के लिए कृषि, व्यापार, युद्ध, यज्ञआदि कर्मों में संलग्न रहती है। विषय प्राप्त हो जाने पर भोग में लिप्त (भोगैश्वर्यप्रसक्त) हो जाती है। फिर कुछ समय तक भोग कर लेने पर उस विषय से अतृप्त होकर उससे सैकड़ों गुने अधिक विषय की कामना करती है। उसकी यह कामना घृत को प्राप्त करने वाली अग्नि के समान बढ़ती ही जाती है और कभी भी शान्त नहीं

---

१. एकस्मै मोक्षफलाय हि मुमुक्षोः सर्वाणि कर्माणि विधीयन्ते। एकफलसा-धनविषयतया एका।

अर्थ—मुमुक्षुके समस्त कर्म एकमात्र मोक्षरूप फल के लिए होते हैं। अतः एकमात्र मोक्षरूप फल और उसमें साधनभूत कर्मों को विषय करने वाली होने से यह एका कही गई है। —रामानुज भाष्य

२. इह ईश्वराधनलक्षणे कर्मयोगे व्यवसायात्मिका परमेश्वर भक्त्यैव ध्रुवं तरिष्यामीति निश्चयात्मिका एकैव=एक निष्ठैव बुद्धिर्भवति।

—श्रीधरी टीका

होती। कारण, सच्चा सुख, सच्ची शान्ति एवं तृप्ति तो आत्मा में ही है विषयों में नहीं है। अतः उसका यह प्रयास ऐसा ही है जैसे कि प्यासे मृग का तप्त मरु को भ्रमवश जल समझकर प्यास बुझाने के लिये दौड़ना। इस कारण चिन्ता और अशान्तिपूर्वक अनन्त विषयों की कामना करने वाली होने से इसे अनन्त कहा गया है और प्रत्येक विषय के प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के कर्मों में भटकने वाली (क्रियाविशेषबहुलाम्) होने से इसे बहु शाखा वाली कहा गया है। अथवा एक मुख्य फल के लिए किये जाने वाले कर्म के साथ साथ अन्य अनेक अवान्तर फलों की कामना करने वाली होने से इसे बहु शाखा वाली[1] कहा गया है।

दूसरा अङ्ग

बुद्धि को आत्मस्थ (सत्त्वस्थ) करना

बुद्धि को इस प्रकार व्यवसायात्मिका करना सभी योगमार्गों के लिये आवश्यक है। कारण, जब तक विषय-भोगमय जीवन से वैराग्य और अध्यात्म जीवन के प्रति प्रबल आकर्षण और तदनुकूल योग-मार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय न हो तब तक किसी भी योग का न सफलतापूर्वक प्रारम्भ हो सकता है और न अनुष्ठान ही। जब लक्ष्य और मार्ग का निश्चय हो जाय तो साधक को अपने लक्ष्यभूत आत्मा में बुद्धि को स्थित करने का प्रयत्न करना चाहिये। अतः गीता ने बुद्धियोग का दूसरा साधन बतलाया है बुद्धि को आत्मस्थ करना (नित्य सत्त्वस्थ)। यहाँ सत्त्व शब्द का अर्थ कुछ टीकाकारों ने सत्त्वगुण[2] किया है। परन्तु गीता ने इसी श्लोक के पहले पद में त्रिगुणातीत होने का आदेश दिया है

---

१. बहुशाखा शब्द की यह दूसरी व्याख्या रामानुजाचार्य ने की है। इसका उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि जैसे एक ही (स्वर्गादि) फल की कामना से किये जाने वाले दर्शपूर्णमासादि कर्म में दीर्घ आयु और श्रेष्ठ सन्तान की भी कामना की जाती है—(आयुराशास्ते सुप्रजत्वमाशास्ते)

२. सदा सत्त्वगुणाश्रयो भव ।। (शांकर भाष्य)

(निस्त्रैगुण्यो भव)। अतः एक ही श्लोक में 'त्रिगुणातीत' और 'सत्त्वगुणस्थ' होने के आदेश एक दूसरे के विरुद्ध हैं। त्रिगुणातीत होने पर बुद्धि की स्थिति आत्मा में ही सम्भव है, अतः सत्त्व शब्द का अर्थ आत्मा (True self) ही करना चाहिये जैसा कि श्री अरविन्द ने किया है।

सत्त्व शब्द आत्मा के अर्थ में संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों पर मिलता है। जैसे—

गृहाणीव हि मर्त्यानामाहुर्देहानि पण्डिताः ।
कालेन विनियुज्यन्ते सत्त्वमेकं तु शाश्वतम् ॥

महाभारत स्त्री पर्व ३।८॥

"पण्डितों का कथन है कि मनुष्यों के देह घरों के समान हैं। समय आने पर वे पृथक् हो जाते हैं, नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। केवल एक 'सत्त्व' नित्य विद्यमान रहता है"। यहाँ सत्त्व शब्द का **अर्थ** सत्त्वगुण नहीं हो सकता, कारण वह सदा विकारशील है, कभी कम होता है, कभी बढ़ जाता है, कभी यह रज और तम को अभिभूत करके स्वयं प्रधान हो जाता है, कभी रज और तम इसे अभिभूत कर देते हैं। यदि इसे शाश्वत माना जायगा तो रज और तम को भी शाश्वत मानना पड़ेगा। कारण सत्त्वगुण रज और तम के बिना अकेला नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में ये तीनों गुण शाश्वत हो जाते है और इस श्लोक का 'एकं' शब्द व्यर्थ हो जाता है। केवल आत्मा ही एक और शाश्वत है। गीता ने शाश्वत शब्द के स्थान पर नित्य शब्द का प्रयोग किया है (नित्य सत्त्वस्थ) और इन दोनों शब्दों का उसने अनेक स्थानों पर आत्मा के ही लिए प्रयोग किया है सत्त्वगुण के लिये नहीं जैसे—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः ॥२।२०॥

इसी प्रकार महाभारत में अन्यत्र कहा गया है :

ये तु प्राज्ञाः स्थिताः सत्त्वे संसारेऽस्मिन् हितैषिणः ।
समागमज्ञाः भूतानां ते यान्ति परमां गतिम् ॥

(महाभारत स्त्री० ३।२०)

"इस संसार में अपना कल्याण चाहने वाले जीवों के गमन और आगमन का

ज्ञान रखने वाले जो बुद्धिमान् मनुष्य सत्त्व में स्थित होते हैं वे परमगति को प्राप्त होते हैं''। इस श्लोक में 'सत्त्व' में स्थित मनुष्य को परमगति या मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है। गीता के अनुसार सत्त्वगुण भी इसी प्रकार बन्धन का कारण[1] होता है जैसे रज और तम। इसमें स्थित मनुष्य को परमगति या मोक्ष की प्राप्ति होना संभव नहीं है। अतः यहां भी 'सत्त्व' शब्द का अर्थ आत्मा ही करना होगा। शंकराचार्य ने 'समाधावचला बुद्धिः' (२।५३) इस वचन की व्याख्या करते हुए समाधि शब्द का अर्थ आत्मा किया है (समाधीयते चित्तं अस्मिन्निति समाधिः आत्मा) और इसमें बुद्धि की अचल स्थिति मानी है। अतः "नित्य सत्त्वस्थ" यहां भी सत्त्व शब्द का अर्थ आत्मा करना उचित है।

आत्मा शब्द गीता में तीन रूपों के लिये प्रयुक्त हुआ है—व्यक्तिगत आत्मा, अक्षरात्मा और पुरुषोत्तम। व्यक्तिगत आत्मा को क्षरात्मा और जीवात्मा भी कहा गया है। अक्षरात्मा शब्द शुद्ध मुक्तात्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है और ब्रह्म के लिए भी जिसे कूटस्थ, अव्यक्त, अनिर्देश्य, अचिन्त्य आदि नाम दिये गए हैं। पुरुषोत्तम को ईश्वर, परमात्मा, महेश्वर, परमपुरुष कहा गया है। बुद्धियोग में जिस आत्मा में बुद्धि को स्थित करने का आदेश है वह यद्यपि तीनों हैं तथापि दूसरे अध्याय में व्यक्तिगत शुद्ध, शान्त आत्मा और अक्षर ब्रह्म इन दो की ओर झुकाव जान पड़ता है। पुरुषोत्तम में बुद्धि को स्थित करने का स्पष्ट वर्णन अगले अध्यायों[2] में आता है यद्यपि संकेत दूसरे अध्याय[3] में भी किया गया है।

---

१. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ १४।५॥

२. मय्यर्पित मनोबुद्धि (१२।१४), मयि बुद्धि निवेशय (१२।८), बुद्धियोग-मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव (१८।५७)।

३. युक्त आसीत मत्परः।२।६१॥

तीसरा अङ्ग

निष्काम कर्म

बुद्धि को आत्मा में स्थित करने के लिए भिन्न भिन्न योगों ने भिन्न भिन्न साधन बतलाये हैं, जैसे—ज्ञानयोग ने ज्ञान, भक्ति-योग ने भक्ति, ध्यान-योग ने ध्यान इत्यादि। परन्तु बुद्धियोग चूंकि कर्मयोग का अङ्ग है अतः इसमें मुख्य साधन है निष्काम कर्म। अतः गीता कहती है :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥२।४७॥

यह श्लोक कर्मयोग का हृदय या महावाक्य है। फल की कामना से किया हुआ कर्म बन्धन का कारण होता है। अतः गीता ने कर्म से इस दोष को दूर करने के लिए कहा है, "फलों में तेरा अधिकार नहीं है, कर्मफल को हेतु न बना"। परन्तु यदि गीता इतना ही कहती तो यह बुद्धियोग एक प्रकार का ज्ञानयोग ही होता, कर्मयोग का अङ्ग न होता। कारण, बुद्धि को व्यवसायात्मिका और आत्मस्थ करना ज्ञानमार्ग को भी अभीष्ट है, ज्ञान-मार्ग में कर्मों को ज्ञान और मोक्ष का विरोधी मानकर उनका सर्वथा परित्याग किया जाता है और संन्यास ग्रहण करना होता है। जब कर्मफल में अधिकार नहीं है और कर्मफल को हेतु नहीं बनाना है तो कर्म करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। अतः इस सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम होता है सर्व-कर्म-संन्यास। परन्तु गीता ने इस ज्ञानयोग से बुद्धियोग को भिन्न करने के लिए स्पष्ट कहा है कि अकर्म में तेरी आसक्ति न हो, कर्म करने में ही तेरा अधिकार है—अर्थात् कर्म करना ही तेरा कर्त्तव्य है। यहां बुद्धियोग ज्ञानयोग की सीमा का उल्लंघन करके कर्मयोग के साम्राज्य में प्रवेश करता है।

"फल को हेतु न बना" (मा कर्मफलहेतुर्भूः) इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य इस प्रकार के कर्म करे कि जिनका कुछ भी फल न हो। इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि कर्म करते समय कर्त्ता के मन में उसके फल का ज्ञान न हो। कारण, इस प्रकार के कर्म तो केवल पागल मनुष्य ही

कर सकता है। योगी साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान्, विवेकशील होता है, वह कर्म के अच्छे या बुरे फल को भली प्रकार सोच विचार कर कर्म करता हैं। साधारण मनुष्यों से योगी में यह भेद होता है कि साधारण मनुष्य की दृष्टि कर्म के केवल लौकिक और तात्कालिक फल तक सीमित रहती है परन्तु योगी की दृष्टि आध्यात्मिक और अन्तिम फल को देखती है। अतः योगी को कर्म-फल का ज्ञान रहना अनिवार्य है। साधना-अवस्था में कभी कभी यह हो सकता है कि साधक को कर्म करने की प्रेरणा भगवान् की ओर से हुई हो किन्तु उसके परिणाम का उसे ठीक-ठीक ज्ञान न हो। परन्तु जब साधक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है कि उसे भगवत्प्रेरणा होने लगे तो उसे कर्म के परिणाम का भी कुछ न कुछ आभास हो ही जाता है। कम से कम उसे अपने भीतर यह विश्वास अवश्य रहता है कि जिस कर्म के करने की उसे भगवत्प्रेरणा हुई है उसका कुछ न कुछ उत्तम फल अवश्य होगा। अतः कर्म करते समय उसके फल की भावना साधक के मन में अवश्य विद्यमान रहेगी। जिस वस्तु का यहाँ त्याग करना है वह फल का ज्ञान नहीं है अपितु फलासक्ति है। अतः कर्म के फल को हेतु न बना (मा कर्मफलहेतुर्भूः) इस वचन का अर्थ है कर्मफल में आसक्त न हो (मा कर्मफलासक्तो भव)।

फलों में तेरा अधिकार नहीं (मा फलेषु कदाचन) इस वचन का यह अभिप्राय नहीं है कि मनुष्य कर्त्तव्य रूप में अपना कर्म तो करे किन्तु जब फल मिलने लगे तो उसे ग्रहण न करे। जिन फलों की कामना से मनुष्य कर्म करता है वे दो प्रकार के होते हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। व्यक्तिगत फल—जैसे धन, सन्तान, विजय, यश, उच्च पद इत्यादि। सामाजिक फल–जैसे देश की स्वतन्त्रता, किसी नवीन ज्ञान का आविष्कार, किसी उच्च सिद्धान्त, आदर्श या धर्म की स्थापना इत्यादि। इन फलों के लिए मनुष्य कृषि, व्यापार, यज्ञ, युद्ध, दान, समाज सेवा, धर्म-सेवा आदि के रूप में अनेक प्रकार के कर्म करता है। यदि कृषि करने वाला मनुष्य ठीक समय पर अपनी खेती को काट कर न लाय अथवा व्यापार या नौकरी करने वाला उनसे प्राप्त होने वाले धन को न ग्रहण करे तो इसका परिणाम होगा स्वयं अपना और अपने परिवारवालों का भूखों मरना। यह फल-त्याग एक प्रकार का आत्म-विनाश है। कर्मयोग का उद्देश्य

आत्म-विनाश नहीं है अपितु अपने-आपको और समाज को उन्नत और पूर्ण बनाना है। अतः कर्मयोगी को कर्म का फल ग्रहण करना ही होगा। हाँ, यदि उसके पास आवश्यकता से अधिक धन आता है तो उसका उपयोग स्वयं अपने भोग-विलास में न करके समाज की सेवा में करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव अपनी आय का कम से कम दशम अंश यज्ञ रूप में समाज की सेवा में अवश्य लगाना चाहिये।

यश का अर्थ है किसी व्यक्ति के सद्गुणों के प्रति समाज में श्रद्धा और सम्मान का भाव। इस श्रद्धा और सम्मान के कारण दूसरे मनुष्य उसे अपना नेता बनाकर उच्च पद पर प्रतिष्ठित करते हैं और उसके आदेश का पालन करते हुए अपनी और समाज की उन्नति करते हैं। जिस व्यक्ति का समाज में यश या मान नहीं है वह उत्तम रूप में समाज की सेवा नहीं कर सकता। अतः जो मनुष्य समाज की सेवा करना चाहता है—और गीता के अनुसार समाज सेवा कर्मयोग का एक आवश्यक अथवा, कम से कम, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग[1] है, यद्यपि यह बन्धन रूप नहीं है—वह यश और उच्च पद का परित्याग नहीं कर सकता। हाँ उसे केवल यश और उच्च पद को लक्ष्य में रखकर कर्म नहीं करना चाहिये। सामाजिक फलों से तो किसी एक व्यक्ति के ग्रहण या परित्याग का विशेष सम्बन्ध नहीं है। किसी धर्म या उच्च आदर्श के प्रचार का फल कभी कभी सैंकड़ों वर्षों के अनन्तर होता है। राष्ट्रीय युद्धों में विजय सम्पूर्ण राष्ट्र की होती है। वह जब मिलती है तो उसे ग्रहण किया ही जाता है। अतः जिस वस्तु का साधक को परित्याग करना होता है वह कर्म-फल नहीं है अपितु उसमें आसक्ति है। अतः गीता ने आगे कहा है :

"संगं त्यक्त्वा" (२।४८), **"त्यक्त्वा कर्म फलासंगम्"** (४।२०)

---

१. लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥३।२०॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं ऋषयः, सर्वभूतहिते रताः ॥५।२५॥

चौथा अंग

सिद्धि असिद्धि में समता

कर्म फल में आसक्ति-परित्याग या अनासक्ति का साधन है सिद्धि और असिद्धि में समता। जब मनुष्य की बुद्धि किसी फल में आसक्त होती है तो उसका परिणाम यह होता है कि जिस किसी भी कर्म से मनुष्य को अभीष्ट सिद्धि मिलने की आशा होगी वह उसे ही करेगा चाहे व; अनुचित या दुष्कर्म ही क्यों न हो और जिस कर्म से आपाततः असिद्धि की संभावना जान पड़ेगी उसे न करेगा चाहे वह उसका कर्तव्य ही क्यों न हो। ऐसा मनुष्य भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकता, कारण गीता में भगवान् कहते हैं कि दुष्कर्म करने वाले मुझे नहीं प्राप्त कर सकते[1]। अतः यह बुद्धि भगवान् में या आत्मा में स्थित नहीं होती।

फल में आसक्ति होने पर कर्म करते समय जब अभीष्ट सिद्धि की सम्भावना दिखलाई देती है तो हर्ष होता है और असिद्धि दिखलाई देने पर शोक होता है। इसी प्रकार कर्म के अन्त में जब सिद्धि प्राप्त होती है तो हर्ष होता है और असिद्धि मिलने पर शोक होता है। ऐसी बुद्धि लौकिक विषयों में और हर्ष, शोक आदि द्वन्द्वों में स्थित रहती है आत्मा में नहीं रहती। सिद्धि और असिद्धि के विषय में होने वाले हर्ष और शोक का परित्याग करने से समता प्राप्त होती है। समता से बुद्धि अपने कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहती है, फल में आसक्ति दूर होती है और बुद्धि आत्मस्थ होती है।

सिद्धि और असिद्धि में समबुद्धि होने के लिए साधक को भगवान् का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। उसे अपने भीतर यह भावना दृढ़ करनी चाहिए कि जब वह अपने कर्तव्य कर्म का ठीक ठीक पालन करेगा या उसने कर दिया है तो उसका उचित फल उसे ठीक समय पर अवश्य मिलेगा। उसे अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति और रक्षा की चिंता आहंकारिक रूप से स्वयं न करते

१. न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ॥७।१५॥

हुए (निर्योगक्षेम) उनका भार भगवान् पर ही छोड़ना चाहिए। कारण, भगवान् ने कहा है कि जो मनुष्य अनन्य भाव से मेरी उपासना करते हैं उनके योगक्षेम का भार मैं स्वयं उठाता हूँ[१]। अखिल विश्व का पालन करने वाला भगवान् कभी भी अपने भक्तों की उपेक्षा नहीं कर सकता[२]। अतः साधक को कर्म का क्या फल मिले और किस समय मिले इसका भार भगवान् पर ही छोड़ना होगा। फल मिलने में कभी कभी विलम्ब हो सकता है और यह भी सम्भव है कि फल साधक की आशा से भिन्न या विपरीत हो। परन्तु ऐसा होने का कारण अन्याय नहीं है अपितु भगवान् की ऐसी व्यवस्था है कि जिसमें अनेक बार तात्कालिक सुख और असिद्धि की अपेक्षा कष्ट और असिद्धि के द्वारा अधिक उत्कृष्ट सुख और सिद्धि प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त, मनुष्य के कामना, भोग और द्वन्द्वमय जीवन से अध्यात्म जीवन में उन्नति का मार्ग अनेक प्रकार के कष्टों और विपत्तियों से भरा हुआ है। ये कष्ट अनेक बार भगवान् की ओर से ही साधना या तप के रूप में साधक के लिए नियुक्त किये जाते हैं[३] जिनका दिव्य रहस्य उसे आगे चलने पर ज्ञात होता है। अत साधक

---

१. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योमक्षेमं वहाम्यहम् ॥९।२२॥

२. भोजनाच्छादने चिंतां वृथा कुर्वन्ति साधवः।
यो वै विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्षते ॥

३. यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्।

जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका सब कुछ छीन लेता हूँ। भगवान् की ओर प्रवृत्त होने वाले कुछ मनुष्यों के साथ ऐसा होता है कि उनके प्रत्येक भौतिक सहारे को या प्रत्येक उस वस्तु को जिसे वे बहुत अधिक चाहते हैं उनसे छीन लिया जाता है और यदि वे किसी से प्रेम करते हैं तो वह भी उनसे ले लिया जाता है। ऐसा सबके लिए नहीं होता। यह उनके लिये होता है जिन्हें भगवान् अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

(मातृवाणी २,२)

को चाहिए कि कर्म के परिणामस्वरूप जब उसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त हो तो उसे भगवान् का प्रसाद समझे और आहंकारिक रूप से उसमें हर्ष से फूल न जाय। इसी प्रकार जब आशा से कम या विपरीत फल मिले या कष्ट प्राप्त हो तो उसे भी भगवान् का प्रसाद समझे और कष्टों को तप रूप में प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करे, शोक न करे।

पांचवा अंग

कर्म में कुशलता

आशा से कम या विपरीत फल मिलने का कभी कभी यह कारण होता है कि मनुष्य को फल के अनुकूल साधनों का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता अथवा प्रमादवश उनके साधनों का ठीक ठीक उपयोग नहीं किया जाता। उदाहरणस्वरूप भारतवर्ष में भूमि बहुत काफी है, वृष्टि काफी होती है, नदियाँ बहुत अधिक हैं किन्तु फिर भी यहाँ इतना कम अन्न उत्पन्न होता है कि करोड़ों रुपयों का अन्न बाहर से मंगाना पड़ता है। भारतवर्ष में एक एकड़ भूमि में जितना अन्न उत्पन्न होता है अमेरिका आदि देश इतनी भूमि में उससे कई गुणा अधिक अन्न उत्पन्न करते हैं। इस कारण वे न केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, अपितु दूसरों को भी अन्न भेजते हैं। ऐसी स्थिति में कम फल पर सन्तोष रखना मूर्खता है, सच्चा कर्मयोग नहीं है। यह अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं है अपितु उससे च्युत होना है, कर्म नहीं अकर्म है, अधर्म है। अतः गीता ने कहा है कि कर्म को कुशलता-पूर्वक करना, फल के अनुकूल साधनों की बुद्धिमत्तापूर्वक खोज करते हुए उनका ठीक ठीक उपयोग करना और सावधानता, चतुराई और लगन के साथ कर्म करना योग है।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब मनुष्य की बुद्धि में किसी फल या सिद्धि की प्रबल कामना होती है तो वह पूरी सावधानता, बुद्धिमत्ता और लगन के साथ कर्म करता है और जब वह सिद्धि और असिद्धि के प्रति उदासीन होता है तो उपेक्षा और असावधानी से कर्म करता है। धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं

के कार्य बहुधा इस असावधानता के कारण असफल या अंशतः ही सफल होते हैं। अतः गीता ने इस दोष को दूर करने के लिए यह कहा है कि मनुष्य को अपना कर्त्तव्य-कर्म कुशलता से, अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार पूरी सावधानता, बुद्धिमत्ता और लगन के साथ करना चाहिए, तभी वह सच्चा कर्मयोग हो सकता है।

यदि फल या सिद्धि की कामना नहीं है तो कर्म को कुशलता-पूर्वक करना उस समय सरल हो जाता है जबकि साधक कर्म का उद्देश्य भगवान् की प्रसन्नता बनाले । अत· जैसे कोई पाचक अपने प्रभु को प्रसन्न करने के लिए रसोई पकाते समय शाक में चीनी और खीर, हलवे आदि में खटाई, मिरच नहीं डालता और अपनी शक्ति के अनुसार पूरी सावधानता, बुद्धिमत्ता और लगन से कार्य करता है इसी प्रकार साधक भी प्रत्येक कर्म को भगवान् को प्रसन्न करने के उद्देश्य से पूरी सावधानता, बुद्धिमत्ता और लगन से करता है।

इसके अतिरिक्त फल में आसक्त और सिद्धि असिद्धि में हर्ष और शोकादि द्वन्द्वों के कारण अशान्त और चंचल रहने वाली बुद्धि, सिद्धि के लिये आवश्यक साधनों की ठीक-ठीक खोज नहीं कर सकती और न उनके उचित उपयोग पर ही दृढ़ रह सकती है। जिस योद्धा की बुद्धि शत्रु की थोड़ी सी विजय को देखकर शोक से व्याकुल हो जाती है वह शत्रु से युद्ध करने के दांव-पेच को नही सोच सकती और न वह योद्धा दृढ़ता के साथ युद्ध कर सकता है। जो बुद्धि फल में अनासक्त है और सिद्धि असिद्धि में सम तथा शान्त रहती है वह प्रत्येक कर्म को उत्तमता से कर सकती है। अतः अनासक्ति और समता के परिणाम-स्वरूप स्वभावतः बुद्धि में कर्म करने की कुशलता आने लगती है।

इसके अतिरिक्त, फलों में आसक्त तथा सिद्धि असिद्धि में असम बुद्धि रखने वाले मनुष्य को कृषि, व्यापार आदि कर्मों का जो लौकिक फल मिलता है वही फल में अनासक्त और समबुद्धि वाले व्यक्ति को भी उस कर्म के ठीक प्रकार करने पर मिलता है। परन्तु पहले मनुष्य को उस लौकिक फल के साथ-साथ आसक्ति और असमता के परिणाम-स्वरूप दुःख, क्लेश, बन्धन मिलते हैं। और दूसरे मनुष्य को अनासक्ति, समता और भगवदर्पणभाव के परिणाम-स्वरूप भगवान् का प्रसाद, मोक्ष और स्वयं भगवान् प्राप्त होते हैं। अतः इस प्रकार

किया हुआ कर्म उत्तम फल देने वाला होने से कुशल कर्म होता है। इसलिए इस प्रकार की बुद्धि से कर्म करना कर्म का कौशल है।

इसके अतिरिक्त योग-साधना करते रहने पर जब बुद्धि भगवान् में स्थित हो जाती है (आत्मस्थ, नित्यसत्त्वस्थ) तो उस समय स्वयं भगवान् ही उसके कर्मों के करने वाले हो जाते हैं। अतः उसके कर्म साधारण मानव बुद्धि और शक्ति से नहीं होते, अपितु भगवान् की अनन्त ज्ञान रखने वाली बुद्धि और शक्ति से होते हैं, अतः उनमें सर्वदा सफलता ही हुआ करती है। इस कारण ये कर्म पूर्णतया कुशल कर्म होते हैं।

इस अवस्था में आहंकारिक रूप से सावधानता या कुशलता का भार साधक पर नहीं रहता। उसके समस्त कर्मों की प्रवृत्ति भगवान् से होती है, उनका अनुष्ठान भी उसकी ही दिव्य शक्ति से होता है और उनके फल का भी वही अधिकारी या भोक्ता होता है। इस समय जितने भी कर्म होते हैं वे सब उत्तम ही होते हैं और उत्तम फल देने वाले होते हैं अतः शुभ अशुभ, पाप और पुण्य का बन्धन नहीं रहता। अतः वह कर्मयोगी जन्म, मरण आदि बन्धनों से मुक्त होकर उस परमानन्दमयी स्थिति को प्राप्त करता है जहाँ बुद्धि समाधि, आत्मा, ब्रह्म या भगवान् में निश्चल. भाव से स्थित हो जाती है।

छठा अङ्ग

मन का संयम

गीता की लक्ष्यभूत समाधि हठयोग या पातंजल योग की समाधि जैसी नहीं है कि जिसमें मनुष्य विषयों से दूर रहता है और विषयों का संकल्प भी मन में नहीं रहता। गीता के कर्मयोग में तो कर्म करते हुए और इस कारण विषयों के समीप रहते हुए समाधिस्थ[1] रहना होता है। अतः इसमें काम के आक्रमण होते रहने की सम्भावना अपेक्षाकृत अधिक रहती है। कारण, काम मनुष्य का अत्यन्त भयंकर शत्रु है जिसका निवास-स्थान केवल बुद्धि ही नहीं अपितु मन

१. योगस्थः कुरु कर्माणि ॥२।४८॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ॥५।२५॥

और इन्द्रियाँ भी[1] हैं। यदि इसे इनके किसी एक स्थान से बाहर निकालने में कुछ सफलता प्राप्त की जाती है तो यह दूसरे स्थानों में छिपा बैठा रहता है, और थोड़ा भी अवसर मिलने पर साधक पर आक्रमण कर बैठता है, उसके संयम और ज्ञान-रूपी अमूल्य धन को लूट लेता है और उसे मोह, भोग एवं दुष्कर्म में फंसाकर भ्रष्ट कर देता है। अतः बुद्धि को समाधिस्थ, आत्मस्थ करने के लिये मन और इन्द्रियों में से भी इसे निकाल बाहर करना चाहिये।

कामना का मुख्य निवास-स्थान वास्तव में मन या हृदय है जिसे चित्त भी कहते हैं। इसका मूल स्वरूप मनुष्य के हृदय या मन की यह वासना है कि विषयों में कोई सुख या रस विद्यमान रहता है। जब मनुष्य इस रस की वासना के साथ किसी लौकिक विषय का विचार करता है तो वह उस ओर आकृष्ट हो जाता है। इस आकर्षण को संग या आसक्ति कहते हैं, इस संग से उसे प्राप्त करने और भोगने की कामना उत्पन्न होती है। यदि विषय प्राप्त हो गया तो मनुष्य भोग में लिप्त हो जाता है और यह कामाग्नि घृत को प्राप्त अग्नि के समान बढ़ती जाती है (दुष्पूरेणानलेन)। इसके वशीभूत होने पर मनुष्य दूसरों के अधिकारों को हड़प कर जाना चाहता है। जब दूसरों से इसमें बाधा पहुँचती है तो उनके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से बुद्धि पर एक प्रकार का मोहावरण आ जाता है जिससे वह अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ठीक प्रकार विवेक नहीं कर सकती। अतः वह अपने एकमात्र लक्ष्य और कर्त्तव्य-कर्म को भुलाकर अपने सच्चे मार्ग से भ्रष्ट हो जाती है और राग, द्वेष, शत्रुता, मित्रता, हानि-लाभ, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों के जाल में फंस जाती है। इस प्रकार यह स्वयं नष्ट हो जाती है और आत्मा को संसार की विपत्तियों में, संसार के बन्धन में डालकर मानो नष्ट कर डालती है[2]। अतः जब तक मन पर संयम रखते हुए

---

१. इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥३।४०॥

२. ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥२।६२॥
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥२।६३॥

उसमें से कामवासना का बहिष्कार न किया जाय तब तक बुद्धि को समाधिस्थ रखना सम्भव नहीं है।

साधन (१)

मन को संयम में रखने और उसमें से काम को बाहर निकालने का प्रथम साधन यह है कि उसे विवेकशील बुद्धि के द्वारा विषयों में दोष दिखलाते हुए सर्वदा यह स्मरण कराते रहना चाहिये कि सच्चा सुख विषयों में नहीं है अपितु आत्मा में है। इस कार्य के लिए उपनिषद्, गीता, महाभारत, पुराण आदि के इस विषय से संबंध रखने वाले उत्तम उत्तम वचन उसके स्मृति पटल पर सदा अङ्कित करते रहना चाहिये। जैसे :

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

(केनोपनिषद्)

जिन विषयों की मनुष्य उपासना करता है वे ब्रह्म नहीं हैं।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३।८)

विषय-भोगमय जीवन में जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग आदि दुःखों को भोगना होता है, इस दोष को मनुष्य देखे :

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

(मनुस्मृति)

यत्पृथिव्यां ब्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं तृप्त्यै पुंसोऽत्र कामिनः ॥

(महाभारत)

ततो विषयसंयोगो न विरागस्य कारणम् ।
किन्तु रागस्य सततं सर्वेषामिह देहिनाम् ॥

उपायस्त्वेक एवात्र शान्त्यै रागस्य विद्यते ।
सर्वेषां देहिनां तस्माद् विषये दोषदर्शनम् ॥

(अध्यात्म पुराण ६६७, ६६८, ६६९)

कामना विषयों के भोग से शांत नहीं होती अपितु जैसे हवि के डालने से अग्नि अधिक बढ़ती है, इसी प्रकार विषयों के भोग से कामना अधिकाधिक बढ़ती जाती है । पृथ्वी पर जितने भी चावल, जौ, स्वर्ण, पशु, स्त्री आदि भोग्य पदार्थ हैं वे सब मिलकर एक कामी पुरुष की तृप्ति नहीं कर सकते । अतः विषय-भोग वैराग्य का कारण नहीं है अपितु सदा राग को ही बढ़ाता है । राग की शान्ति का केवल एक ही उपाय है—विषयों में दोष देखना ।

यदि योग का अनुष्ठान करते हुए विषय-भोगों की ओर प्रवृत्ति हो तो मन को पातंजल योग की भाषा में निम्नलिखित वचन स्मरण कराना चाहिये—

घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेम मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः । स खल्वहं त्यक्त्वा, वितर्कान् पुनस्तानाददानः तुल्यः श्ववृत्तेन, यथा श्वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददानः । (व्यास भाष्य ३।३३)

संसार की भयंकर अग्नि में दुःख भोगते हुए मैंने उन दुःखों से बचने के लिये योग-मार्ग की शरण ग्रहण की है । जिन भोगो और दोषों का मैंने त्याग किया है यदि मैं उनको फिर ग्रहण करूँगा तो मेरी दशा उस कुत्ते के समान होगी जो कि अपनी उगाली को स्वयं खा लेता है ।

इस प्रकार विषयों में दोष-दृष्टि रखने से काम-विकार बहुत कुछ दूर हो जाता है । यदि काम का वेग सर्वथा दूर न हो तब भी बुद्धि का अनुमोदन न होने से वह कुछ न कुछ कम अवश्य हो जाता है और अभ्यास बढ़ाते रहने से भविष्य में पर्याप्त सफलता मिलती है । अतः अरविन्द ने लिखा है कि, कामना के विचार का अनुमोदन न करना भी उसके परित्याग का ही एक अङ्ग है[1] ।

---

१. Refusal to indulge the suggestion of desire also is a part of the rejection. (Bases of Yoga)

साधन (२)

काम परित्याग करने का दूसरा साधन यह है कि इसे और इसके साथी या पुत्र क्रोध, लोभ आदि को बाहर से आक्रमण करने वाले और भीतर घुस बैठने वाले प्रकृति-संजात शत्रुओं और डाकुओं का गिरोह मानना चाहिये। जिस समय इनका आक्रमण प्रतीत हो तो इनसे यथाशक्ति दूर रहते हुए संग्राम करना चाहिये न कि इनके चंगुल में फंसकर[1]। भोग के द्वारा काम पर विजय प्राप्त करने का मार्ग अत्यधिक कष्टों और विपत्तियों से भरा हुआ है। यह ऐसा है जैसे शत्रु के जाल में अपने-आपको डालकर उस पर विजय प्राप्त करने की आशा करना अथवा कभी-कभी जैसे विष को खाकर यह परीक्षा करना कि इससे मृत्यु होती है या नहीं। इसकी अपेक्षा इन्हें अपने से बाहर शत्रु मानकर इनसे संग्राम करना और इनपर विजय प्राप्त करना सरल है। अतः इस विषय में श्री अरविन्द ने लिखा है :

यदि तुम एक बार इसे (काम को) अपनी प्रकृति से बाहर निकाल सको और यह अनुभव कर सको कि यह एक शक्ति है जो बाहर से आती है और प्राण और शरीर को अपने पंजों में फंसा लेती है तो इस आक्रमणकारी से छुटकारा पाना सरल हो जायगा। (योग के आधार)

तुम्हें जो कुछ करना चाहिए वह यह है कि तुम उसे अपने से दूर रक्खो, उससे पृथक् रहो, उसकी ओर कम से कम ध्यान दो। यदि तुम्हारे मन में उसका विचार आगया है तो उससे उदासीन और अलिप्त रहो।

योग का दबाव पड़ने पर जो कामनायें ऊपर उभर आती हैं उन्हें अपने से

---

१. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३।३७॥
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३।३४॥
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३।४३॥

विजातीय, बाहरी जगत् की वस्तुएं मानकर अनासक्त और शांत भाव से उनका सामना करना चाहिए। (मातृवाणी)

काम क्रोध आदि के वेग के बढ़ने का मुख्य कारण यह होता है कि मनुष्य अज्ञान या मोहवश इनके ठीक स्वरूप को नहीं समझ पाता और इनके प्रवाह में बह जाता है। जब मनुष्य इन्हें अपने से बाहर अपना शत्रु समझ लेगा और और इनसे आत्म-रक्षा करने और सग्राम करने की दृढ़ भावना होगी तो उस समय इनका वेग कम हो जायगा।

साधन (३)

काम पर विजय प्राप्त करने का तीसरा साधन यह है कि जिन मनुष्यों के संसर्ग से यह उत्पन्न होता है या बढ़ता है उनका संसर्ग छोड़ देना चाहिये, यदि सर्वथा छोड़ना सम्भव न हो तो जहाँ तक सम्भव हो कम कर देना चाहिये, जिन वस्तुओं की समीपता में यह होता है उनसे यथाशक्ति दूर रहना चाहिये, जिन परिस्थितियों में यह होता है उनसे यथाशक्ति बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

साधन (४)

काम पर विजय प्राप्त करने का चौथा साधन यह है कि इसके लिये भगवान् से बल की प्रार्थना करनी चाहिए, अपनी कामनाओं को भगवान् के ही सुपुर्द कर देना चाहिए जिससे की वे अपने हाथ में ले लें और उसका रूपान्तर कर दें[1]।

सातवा अंग

इन्द्रिय संयम

यह काम जो कि चित्त या मन में विषय भोगने की कामना का रूप धारण

---

१. They should be offered to the Divtne, so that the Divine may take them up and transmutre them. (Words of the mother P. 45.)

करता है और बुद्धि में तदनुकूल निर्णय करने और योजना बनाने, कर्म करने और फल प्राप्त करने की इच्छा का रूप धारण करता है, इन्द्रियों के क्षेत्र में वास्तविक भोग का रूपधारण करता है। हमारी इन्द्रियां प्रकृति की बनी हैं, अत: जैसे नदी का जल स्वभावत: समुद्र की ओर बहता है अथवा जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है इसी प्रकार इन्द्रियाँ स्वभावत: विषयों की ओर आकृष्ट होती हैं, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है :

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः
तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ॥

(कठ० २।१।१)

अनेक बार इन्द्रियों का विषयों की ओर आकर्षण इतना प्रबल वेग से होता है कि ये मन को विषयों में इस प्रकार खींचकर ले जाती हैं जैसे तीव्र वेग वाली हवा नौका को पानी में बहाकर ले जाती है। तदनन्तर मन बुद्धि को विषयों में खींचकर ले जाता है और विद्वान् मनुष्य के उन्हें रोकने का प्रयत्न करते रहने पर भी ये वश से बाहर हो जाते हैं(२।६७)। अत: जबतक इन्द्रियों पर भी पूरा संयम न हो और इनमें से भी काम का बहिष्कार न किया जाय तबतक बुद्धि समाधि में स्थित नहीं रह सकती।

इन्द्रिय-संयम का आदेश देते हुए गीता ने कहा है कि साधक को अपनी इन्द्रियों को विषयों से इस प्रकार खींच लेना चाहिये कि जैसे कछुआ अपने अंगों को बाहर से सिकोड़ लेता है (२।५८)।

इन्द्रियों पर यह संयम दो प्रकार का होता है। प्रथम, समस्त विषयों का परित्याग करके उनसे कहीं दूर एकान्त जंगल में चले जाना; अत: जब विषय इन्द्रियों के समीप न होंगे तो स्वभावत: भोगों की ओर प्रवृत्ति न होगी। दूसरा संयम है विषयों के समीप रहते हुये इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर इतना अधिकार रखना कि ये भोग में लिप्त न हों। गीता ने दोनों प्रकार के संयम को स्वीकार किया है किन्तु दूसरे संयम को श्रेष्ठ माना है।

इस संयम का उपाय यह है कि साधक विषयों के साथ सम्बन्ध करते समय आवश्यक सीमा का अतिक्रमण न करे। उदाहरण-स्वरूप भोजन करते समय मनुष्य केवल अपने स्वास्थ्य पर दृष्टि रक्खे, केवल स्वाद के कारण आवश्कता से अधिक और हानिकर भोजन न करे। साथ ही इतना कम भी भोजन न करे कि जिससे स्वास्थ्य को हानि पहुँचे। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी मर्यादा का अतिक्रमण न करे[1]।

प्रथम संयम में कठिनाई यह है कि विषयों से दूर हट जाने पर विषयतो दूर हो जाते हैं किन्तु उनके प्रति मन में यह वासना बनी रहती है कि विषयों से एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है। इस वासना को रस कहते हैं। इस रस के रहते हुये विषयों का विचार आने पर संग, काम, क्रोध, स्मृति-भ्रष्टता, बुद्धि-नाश और आत्म-विनाश परिणाम होते हैं, जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। मन और बुद्धि के द्वारा जो इस रस को निर्मूल करने के प्रयत्न किये जाते हैं उनसे अंशत. ही सफलता होती है, कारण वे स्वयं भी प्रकृति के ही बने होते हैं और काम स्वयं उनमें भी रहता है। दूसरे संयम में तो मनुष्य विषयों के समीप ही रहता है, अतः यहाँ मन में रस या विषय-वासना के रहते हुए इन्द्रिय, मन और बुद्धि में विषय-जन्य उत्तेजना होने और इनके विषयों में प्रवृत्त होने की अधिक संभावना रहती है, मन और बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों पर संयम के प्रयत्न इसमें भी वैसे ही अंशतः सफल होते हैं जैसे पहले संयम में। अतः जब-तक इन्द्रिय, मन और बुद्धि से उत्कृष्ट किसी अन्य शक्ति की सहायता न ली जाय तब तक यह काम-वासना या रस निर्मूल नहीं हो सकता और इस कारण इन्द्रियों और मन पर पूरा संयम नहीं हो सकता और बुद्धि स्थायी रूप में समाधि में स्थित नहीं रह सकती। इस कारण इस रस या काम-वासना को निर्मूल करने का सच्चा उपाय गीता ने बतलाया है—परमात्म-दर्शन :

---

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥६।१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥६।१७॥

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ।२।५९।।

इसका कारण यह हैं कि विषयों में जो रस या सुख मिलता है वह बहुत अल्प होता है । उपनिषदों ने कहा है कि समस्त पृथ्वी के धन, सम्पत्ति, पशु, स्त्री, साम्राज्य, ऐश्वर्य आदि में जो सुख मनुष्य को मिल सकता है उसका परिणाम गंधर्व, पितर, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति आदि योनियों में सौ गुना अधिक बढ़ता है और वह ब्रह्मानन्द में चरम सीमा को पहुँच जाता है :

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । एष ह्येवानन्दयाति सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति[1] । एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । एष परमानन्दः[2] ।

वह परमात्मा रस-रूप है । उससे रस प्राप्त करके ही जीव आनन्द का अनुभव करता है । भोजन करने और श्वास लेने आदि में जो सुख मिलता है वह भी उस आकाश-रूप परमात्मा के आनन्द का ही एक अंश है । वह परमात्मा आनन्द की पराकाष्ठा है वह परमानन्द है । समस्त प्राणी उस आनन्द के स्वल्प अंश से जीवित रहते हैं ।

उपनिषदों के अनुसार यदि पृथ्वी के समस्त सुखों में एक तोला भर चीनी के बराबर रस या मिठास माना जाये तो वह देवआदि योनियों में क्रमशः बढ़ता हुआ ब्रह्म की श्रेणी में पहुँचकर एक तिहाई शंख मन या तेंतीस पद्म मन चीनी के रस के बराबर हो जाता है । विषय-जन्य ठमिरस, सुख या मिठास इस प्रकार का है जैसे खारी जल पीने वाले व्यक्ति को साधारण जल मीठा प्रतीत होता है, और यह मिठास दूध, गन्ना और मधु में क्रमशः बढ़ता जाता है । परन्तु मधु का एक बार आस्वादन कर लेने पर वही मीठा लगने वाला जल और साथ ही अन्य मीठे पदार्थ फीके या रसहीन अनुभूत होते हैं । इसी प्रकार भगवान् के अनन्त रस, सुख या आनन्द का एक बार आस्वादन हो जाने पर सम्पूर्ण विषय रसहीन हो जाते हैं । बुद्धि, मन और इन्द्रियों से रस या कामवासना को पूर्णतयानिकाल बाहर करने का यही यथार्थ और श्रेष्ठतम उपाय है ।

१. तैत्तिरीयोपनिषद् २।७।८।।

२. बृहदारण्यक ४।३।३२।।

इसके अतिरिक्त, परमात्मा का आश्रय ग्रहण करने और उसके दर्शन से मनुष्य के अङ्गों में एक प्रकार की दिव्य शक्ति और शांति का अवतरण होता है जिससे उसके बुद्धि, मन और इन्द्रियों का रूपान्तर होता है जिसके परिणाम-स्वरूप वे विषयभोग की ओर आकृष्ट नहीं होते। अतः जहाँतक सम्भव हो बुद्धि के द्वारा मन पर और बुद्धि एवं मन के द्वारा इन्द्रियों पर संयम करते हुए साधक को उस परमात्मा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए, उससे बल की प्रार्थना करनी चाहिए, इन्हें उसके समर्पण करना चाहिए, उसके दर्शन का प्रयत्न करना चाहिये, और मन एवं बुद्धि को उसमें स्थित करना चाहिए (आत्मस्थ) तभी काम का पूर्णतया बहिष्कार हो सकता है। अतः गीता ने कहा है :

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ॥२।६१॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥३।४३॥

बुद्धियोग की अन्तिम अवस्था

इस अवस्था में इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि आत्मा[1] (ब्रह्म, परमात्मा) में इस प्रकार स्थित हो जाते हैं कि विषयों के समीप रहते हुए और बाहर से आकर्षण होते हुए भी कामवश नहीं होते और अपनी मर्यादा का इस प्रकार अतिक्रमण नहीं करते जैसे समुद्र में प्रविष्ट हुआ जल सीमा से बाहर नहीं जाता (२।७०)।

इस समय समस्त कामनाओं और द्वन्द्वों का परित्याग हो जाता है (विहाय कामान् सर्वान्, निर्द्वन्द्वः), अहङ्कार और ममत्व नहीं रहते (निर्ममो निरहङ्कारः), परा शान्ति प्राप्त होती है (शान्तिमधिगच्छति), बुद्धि त्रिगुणातीत (निस्त्रैगुण्य)

---

१. यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

कठोपनिषद् १।३।१३॥

होकर आत्मा, ब्रह्म में स्थित (नित्य सत्त्वस्थ) हो जाती है। कामना, भोग, द्वन्द्व, अहङ्कार और ममत्व वाले जीवन और इस नवीन में रात्रि और दिन के समान अन्तर हो जाता है (२।६९)।

इस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। इसका परिणाम होता है ब्रह्मनिर्वाण। यह निर्वाण बौद्धों के निर्वाण से भिन्न है। कारण, बौद्धों का निर्वाण शून्यरूप होता है जिसमें आत्मा का अस्तित्त्व ही नहीं रहता। परन्तु इस ब्रह्मनिर्वाण में प्राणी का आत्मा ब्रह्म के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त करता है, ब्रह्मरूप हो जाता है, अपने बृहद्रूप, यथार्थ स्वरूप को प्राप्त होता है। ब्रह्म या पुरुषोत्तम में मन और बुद्धि की यह स्थिति-रूप ब्राह्मी स्थिति या ब्रह्मनिर्वाण बुद्धियोग की अंतिम अवस्था है। गीता के अनुसार यह ब्राह्मी स्थिति या ब्रह्मनिर्वाण शरीर छूटने पर ही आये यह बात नहीं। मनुष्य शरीर धारण करते हुए ही इसे प्राप्त कर सकता है और इसे प्राप्त करके कर्म करता रह सकता है[१]। अतः यह बुद्धियोग ज्ञानयोग या संन्यासयोग का अङ्ग नहीं है अपितु कर्मयोग का अंग है।

---

२. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥५।१९॥
लभंते ब्रह्मनिर्वाणं ऋषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मनः सर्वभूतहिते रताः ॥ ५।२५॥

आठवा परिच्छेद

कर्मयोग का महत्त्व

(ज्ञान, कर्म और संन्यास)

गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम भाग में बुद्धियोग का प्रतिपादन किया गया है। वह बुद्धियोग संक्षेप में इस प्रकार है: निष्काम भाव से कर्त्तव्य रूप में कर्म करना, बाह्य संन्यास का परित्याग करना, सिद्धि असिद्धि में समता रखना, मन और इन्द्रियों पर संयम रखना, भगवद्भक्ति करना, आत्मा एवं ब्रह्म में स्थित होना। परन्तु यहाँ संन्यास और भगवद्भक्ति का संकेत मात्र है, इनकी सविस्तर व्याख्या नहीं की गई है। अतः यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म करते समय मनुष्य को अनेक प्रकार की जय पराजय, हानि लाभ आदि प्रिय और अप्रिय घटनाओं का सामना करना पड़ता है जिनमें सुख-दुःख, हर्ष-शोक, आदि विकारों का होना अनिवार्य है। यदि मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके शान्त एकान्त अरण्य में चला जाय तो वह वहाँ शान्ति पूर्वक ब्रह्म में स्थित रह सकता है। वहाँ वह शौच, स्नान, भिक्षाटन, शास्त्र का अध्ययन अध्यापन जैसे कार्य करता रहसकता है और ब्रह्म में भी स्थित रह सकता है, कारण, ये कर्म शान्त वातावरण में होते हैं, अतः इनके होते हुए ब्राह्मी स्थिति में बाधा पहुँचने की कम सम्भावना है। परन्तु गीता तो युद्ध करते हुए समाधि में, ब्रह्म में स्थित रहने का आदेश देती है (योगस्थः कुरु कर्माणि)। यहाँ यह संभव नहीं प्रतीत होता कि जब युद्ध हो रहा है, शत्रुओं के बाणों के आघात के कारण शरीर में रक्त बह रहा है तो शत्रुओं पर क्रोध न आए, शरीर में पीड़ा न हो, मन को दुःख न हो और मनुष्य की बुद्धि ब्रह्म में, समाधि में स्थित रहे। ऐसे कर्म तो घोर राक्षसी, नारकीय, ब्राह्मी स्थिति के विरोधी जान पड़ते हैं। इस भाव को हृदय में रखते हुए ही अर्जुन ने भगवान् से कहा है: "हे जनार्दन ! यदि आपके मत में कर्म से बुद्धि (ज्ञान) श्रेष्ठ है तो हे केशव ! इस घोर कर्म में मुझे क्यों नियुक्त करते हो" [३।१]।

यहाँ दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनुष्य किसी न किसी फल की कामना से ही प्रवृत्त हुआ करता है। जिन कर्मों को मनुष्य देश-सेवा, समाज-सेवा और धर्म-सेवा के रूप में किया करता है और जिन्हें साधारणतया निष्काम, निःस्वार्थ कर्म कहा जाता है उनके मूल में भी पुण्य-संचय, मान, यश आदि की कामनायें छिपी बैठी रहती हैं। इसलिये यह कहा गया है :

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद् यद्धि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ।।

(मनुस्मृतिः २।४)

"मनुष्य जो भी कर्म करता है वह कामना से प्रेरित होकर ही करता है, निष्काम मनुष्य की इस जगत् में कभी भी कुछ भी क्रिया नहीं दिखाई देती" इसलिए जब तक मनुष्य कर्म करता रहेगा तब तक उसके लिए निष्काम होना संभव नहीं है। पूर्णतया निष्काम होने के लिये उसे समस्त कर्मों का परित्याग कर देना होगा।

ये दोनों आक्षेप ज्ञान-मार्ग या संन्यास-मार्ग की ओर से उठाये जाते हैं। भारतवर्ष में अतिप्राचीन काल में वेदों से दो प्रकार के धर्म प्रवृत्त हुए, जिनमें एक को प्रवृत्ति-धर्म या प्रवृत्ति-मार्ग और दूसरे को निवृत्ति-धर्म या निवृत्ति-मार्ग कहा जाता है[1]। प्रथम मार्ग में अनेक प्रकार के यज्ञादि कर्म करके धन, संतान, राज्य, स्वर्ग आदि को प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य होता है, अतः इसे प्रवृत्ति-मार्ग या कर्म-मार्ग कहा जाता है। दूसरे मार्ग में समस्त कर्मों का संन्यास करके शान्त एकान्त अरण्य में जाकर आत्म-चिंतन, ब्रह्म-चिंतन किया जाता है और इसका लक्ष्य होता है मोक्ष, इस कारण इसे निवृत्ति-मार्ग या ज्ञान-मार्ग कहा

---

१. द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्ति-लक्षणो निवृत्तिलक्षणश्चेति ।

[गीता शांकर भाष्य उपोद्घात]

द्वाविभावथपन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाषितः ।।

[महाभारत शा० २४०।६]

जाता है। प्रथम मार्ग का सविस्तर प्रतिपादन ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रन्थों में और दूसरे का उपनिषदों में हुआ। जिस समय इनका बहुत अधिक विस्तार हो गया और भिन्न भिन्न प्रकार के मत प्रकट हो गये तो उनके समन्वय की आवश्यकता हुई। अतः कर्म प्रतिपादक ग्रन्थों का समन्वय जैमिनि ऋषि ने अपने मीमांसा दर्शन में किया और उपनिषदों का समन्वय व्यास ऋषि ने वेदान्त-दर्शन में किया। इन्हें पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा भी कहा जाता है। इन दो मार्गों को वेदवाद और ब्रह्मवाद, मीमांसा और वेदान्त भी कहा जाता है। इन्हें ही कर्म-योग और सांख्य-योग, कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग या संन्यास-मार्ग भी कहा जाता है।

कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग में वैदिक काल में अधिक भेद नहीं था। इसलिए उस काल में वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य जैसे अनेक ऋषि ब्रह्मज्ञानी भी थे और यज्ञादि कर्म करने वाले भी। परन्तु समय बीतते बीतते भेद बढ़ता गया और अर्वाचीन मीमांसा और वेदान्त में यह भेद चरम काष्ठा को पहुँच गया। मीमांसा के अनुसार 'कर्म शब्द का अर्थ किया जाता है वैदिक यज्ञ—वे कर्म जोकि वैदिक मंत्रों के साथ विधिपूर्वक अग्नि में घृतादि पदार्थों की आहुति डालते हुए किसी देवता-विशेष के अर्पण-भाव से किये जाते हैं।

मीमांसा का सिद्धान्त यह है कि कृषि आदि कर्म से जैसे अन्नादि फल उत्पन्न होता है इसी प्रकार यज्ञादि कर्म से स्वर्गादि फल उत्पन्न होता है। मोक्षरूप[1] फल भी इसी प्रकार केवल कर्म से उत्पन्न होता है। इसके लिये ज्ञान की आवश्यकता नही है। जिस प्रकार केवल अग्नि के ज्ञान से अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती या भोजन के ज्ञान से पेट नहीं भर सकता, इसी प्रकार केवल आत्मा के ज्ञान से मोक्ष नहीं मिल सकता[2]। आत्म-ज्ञान का उपयोग केवल इतना ही हो

१. जैमिनी ऋषि के अनुसार ब्रह्मलोक में पहुँचना और वहाँ दिव्य शरीर धारण करके सदा दिव्य ऐश्वर्यों का भोग करते रहना ही मोक्ष हैं। (गीता प्रबन्ध १।६)

२. केवलेभ्यः एव कर्मभ्य मोक्षस्य सिद्धत्वाद् ब्रह्मजानमनर्थकम् विद्यमानस्यापि अकिंचित्करत्वात्, इति भाट्टाः।

(नैष्कर्म्य-सिद्धि टीका १।६)

सकता है कि यज्ञ में यज्ञ के द्रव्य, देवता आदि के ज्ञान के समान यजमान को अपनी आत्मा के स्वरूप का भी ज्ञान यदि होगा तो वह यज्ञ में बल देने वाला[1] होगा। इसलिए यज्ञ के अंग के रूप में या उसके साथ समुच्चित होने पर ज्ञान कीउपयोगिता है, स्वतन्त्र रूप में केवल ज्ञान निरथक है, उससे मोक्ष नहीं मिल सकता[2]।

इसके विपरीत अर्वाचीन वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि अज्ञान का विनाश ही मुक्ति है। कारण, आत्मा स्वरूपतः नित्य मुक्त है। उसे मुक्तिरूप-फल कहीं बाहर से नहीं प्राप्त करना है। अज्ञानवश आत्मा अपने-आपको बंधन में समझता है और इस अज्ञान का दूर हो जाना ही मुक्ति है। जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश से दूर होता है, इसी प्रकार अज्ञान केवल ज्ञान से ही दूर हो सकता है कर्म से नहीं। इसलिये मुक्ति के लिए कर्म की साक्षात् कुछ भी उपयोगिता नहीं है। इसके अतिरिक्त, कर्म तो ज्ञान में बाधक होता है। कारण, शुद्ध आत्मा निष्क्रिय है। उसमें कर्म की प्रवृत्ति शरीर, मन, इन्द्रिय आदि के साथ अध्यास करने पर होती है। जब मनुष्य शरीरादि को आत्मा समझता है तब इनकी जो भोजन, वस्त्र, गृह, संतान, धन, मान आदि की आवश्यकतायें होती है उन्हें आत्मा की आवश्यकतायें मानकर उन विषयों की कामनायें करता है और उन्हें प्राप्त करने के लिये कर्म में प्रवृत्त होता है। वास्तव में आत्मा इन शरीर आदि से और इनकी आवश्यकताओं से सर्वथा पृथक् है। उसका यह अध्यास अपने यथार्थ स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न होता है। अतः अज्ञान-जन्य अध्यास, अध्यास-जन्य कामना और कामना-जन्य कर्म होने से कर्म अज्ञान-मूलक होता है। अतः कर्म अज्ञान की विद्यमानता में ही रह सकता है। किन्तु ज्ञान प्रकाश-स्वरूप है। वह अज्ञान को इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे प्रकाश अन्धकार को या जैसे सिंह भेड़ को। जैसे प्रकाश और अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते, इसी

१. यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।
(छान्दोग्योपनिषद् १।१०)

२. नैष्कर्म्य-सिद्धि (१।२०।२१)

प्रकार प्रकाश-रूप ज्ञान और अन्धकार-रूप (अज्ञान-जन्य) कर्म भी एक साथ नहीं रह सकते। दोनों का समुच्चय नहीं हो सकता[1]। जैसे सूर्य अन्धकार का अङ्ग नहीं हो सकता, इसी प्रकार ज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं हो सकता। जैसे अग्नि शीत का अङ्ग नहीं हो सकती, उष्णता जल का अङ्ग नहीं हो सकती, इसी प्रकार ज्ञान का कम अङ्ग नहीं हो सकता[2]। अतः जब तक कर्म होता रहेगा तब तक अविद्या का बन्धन अक्षुण्ण बना रहेगा। इस कारण परमात्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने वाले यति कर्म का परित्याग कर देते हैं।

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः।। व्यास

इस मत के अनुसार कर्मों की केवल इतनी ही उपयोगिता होती है कि वे अन्तःकरण को शुद्ध करके विवेक, वैराग्य, शम दमादि षट्संपत (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षा—इस साधन-चतुष्टय को उत्पन्न करते हैं।उत्पन्न होने पर कर्मों का अन्त इस प्रकार हो जाना चाहिये जिस प्रकार शरद-ऋतु के आने पर बादलों का[3]। उस समय मुमुक्षु को संन्यास

---

१. बाध्यबाधकभावाच्च पञ्चास्योरणयोरिव।
एकदेशानवस्थानात् न समुच्चयता तयोः।।१।५५।।
हेतुः स्वरूपकार्याणि प्रकाशतमसोरिव।
विरोधीनि ततो नास्ति सांगत्यं ज्ञानकर्मणोः।।१।६६।।

२. तमोऽङ्गत्वं यथा भानोः अग्नेः शीतांगता यथा।
वारिणश्चोष्णता यद्वद् ज्ञानस्यैवं क्रियाङ्गता।।१।७९।।
(नैष्कर्म्य-सिद्धि)

३. प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव।।
[नैष्कर्म्य-सिद्धि १।४९]

ग्रहण करके एकान्त अरण्य में गुरु के पास जाकर वेदान्त वाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते रहना चाहिये और वहाँ से लौटना नहीं चाहिये[1]।

इस प्रकार शान्त, एकान्त अरण्य में श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते करते आत्मा के स्वरूप का प्रत्यक्ष हो जाता है। तदनन्तर जिन प्रारब्ध कर्मों से यह शरीर मिला है उनका भोग से क्षय हो जाता है, शरीर छूटने पर विदेह मुक्ति प्राप्त हो जाती है, आत्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है और फिर उसे कभी भी इस संसार-चक्र में नहीं आना पड़ता, उसका पृथ्वी से और मानव-जाति से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

गीता का प्रारम्भ इन दो मतों के विरोध से होता है, मानो कि इनका समन्वय करना गीता का मुख्य उद्देश्य हो। पहले अध्याय में यह बतलाया गया है कि क्षत्रिय अर्जुन कर्म-मार्ग का पथिक है परन्तु वह संन्यास-मार्ग पर चलना चाहता है (श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीहलोके) और उसे शोक या विषाद भी होता है। उसके इस विषाद के मूल में इन दो भावों का विरोध ही है जो कि उसकी बुद्धि में दृढ़ मूल था। फिर दूसरे अध्याय में गीता सांख्य और योग के नाम से इन दो मतों का पृथक् पृथक् संक्षेप में प्रतिपादन करती है। इसके अनन्तर तीसरे अध्याय में अर्जुन के प्रश्न करने पर इन दो परस्पर विरोधी मतों में समन्वय करना प्रारम्भ करती है। वह पहले ज्ञान-मार्ग के सर्व-कर्म-परित्याग-रूप बाह्य संन्यास के दोषों को प्रकट करती है और फिर मीमांसा के कर्म और यज्ञ के सिद्धान्त को आंशिक रूप में स्वीकार करते हुए उसकी चतुर्थ अध्याय में व्यापक रूप से व्याख्या करती है और फिर पाँचवे और छठे अध्यायों में इन दोनों में एकता[2] कर देती है।

---

१. ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यम्।
अरण्यमियात् ततो न पुनरियात्॥
[ईशोपानिषद्-शांकरभाष्य १,२]

२. एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति। (५।५)
स संन्यासी च योगी च। (६।१)

ज्ञानयोग और कर्मयोग के भेद को बतलाते हुए भगवान् तीसरे अध्याय में कहते हैं कि ज्ञानयोग और कर्मयोग दो प्रकार के मोक्ष-मार्ग हैं जिनका मैंने प्राचीन काल में उपदेश दिया था (३।३)। फिर इनका समन्वय करने की दृष्टि से सर्वकर्म-परित्याग रूप वाह्य संन्यास के दोषों को बतलाते हुये भगवान् कहते हैं कि नि सन्देह मनुष्य का लक्ष्य ऐसी स्थिति को प्राप्त करना है जिसमें कोई भी कर्म बंधनरूप न रहे (नैष्कर्म्य)। मनुष्य यह सोच सकता है कि वह कुछ भी कर्म न करे और उसके पहले कर्म भोग से क्षीण हो जायं और अन्त में कर्म शून्यता (नैष्कर्म्य) या मोक्ष शेष रह जाय। परन्तु यह संभव नहीं है (न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते)। कारण, मनुष्य के बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ प्रकृति के गुणों के परिणाम हैं। गुणों का स्वभाव है सर्वदा क्रिया करते रहना (चलं च गुण वृत्तम्)। यदि मनुष्य हठ से अपनी वाह्य इन्द्रियों को कर्म से हटा लेगा तो उसका मन विषयों का स्मरण करता रहेगा। कम से कम मनुष्य को शरीर धारण करने के लिए भोजन तो अवश्य ही करना पड़ेगा। जो मनुष्य स्वयं कर्म नहीं करेगा उसे जीवन भर कौन भोजन देता रहेगा? शरीर से कर्म न करने पर अथवा ठीक आहार न मिलने पर अजीर्ण, अतिसार, गुल्म, प्लीहा, यकृत-विकार, ज्वर, खाँसी, बवासीर आदि अनेक प्रकार के रोगों का आक्रमण होगा। इनसे मन को कष्ट होगा। इनसे मुक्ति पाने के लिये वैद्य और डाक्टरों की चिकित्सा करानी पड़ेगी। उन्हें वदले में यथेष्ट धन दिये बिना ठीक प्रकार चिकित्सा के साथ अनुकूल पथ्य और आहार की व्यवस्था भी करनी पड़ेगी। इनके बिना रोग-मुक्त होना सम्भव नहीं है। शंकराचार्य ने लिखा है कि जब तक मनुष्य धनोपार्जन करके अपने परिवार वालों का पालन-पोषण करता रहता है तब तक वे उससे प्रेम और उसकी सेवा शुश्रूषा करते रहते हैं। जब शरीर जीर्ण हो जाता है और कर्म करने की शक्ति नहीं रहती तो उस समम वह उन्हें भार रूप जान पड़ने लगता है और कोई भी उसकी बात नहीं पूछता[1]। जब जीवनभर कर्म करने वालों के प्रति ऐसा

---

१. यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः।
पश्चाज्जर्जरभूते देहे वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे॥
(चर्पट मंजरी ६)

व्यवहार होता है तो कर्म न करने वालों के प्रति तो व्यवहार और भी अधिक रूक्ष और तिरस्कारपूर्ण होता है। इससे उसके मन को अत्यन्त कष्ट होता है। यदि कथंचित् वह हर प्रकार के अपमान को सहन भी करना चाहेगा तो यह उसका तमोगुण में अध:पतन होगा। ऐसा जीवन मृत्यु से भी बुरा है। अतः गीता ने कहा है कि कर्म किये बिना शरीर धारण करना ही सम्भव नहीं है[1], मोक्ष की बात तो दूर रही। दूसरी ओर जब वह अध्ययन, अध्यापन, युद्ध, कृषि, व्यापार, शिल्प, उद्योग आदि कर्मों के करने वाले दूसरे मनुष्यों को उत्तम भोजन करने वाला, स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला, और सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाला देखेगा तो स्वभावतः उसके मन में कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी। अतः गीता ने कहा है कि मनुष्य क्षण भर के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण सभी प्राणियों को विवश करके उनसे कर्म कराया करते हैं।[2]

संन्यास ग्रहण करने वाले व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं—प्रथम वे जिन्हें पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वैराग्य होता है, जैसे याज्ञवल्क्य। इस प्रकार के संन्यास को विद्वत्संन्यास कहा जाता है। दूसरे वे व्यक्ति जिन्हें ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधना की आवश्यकता होती है परन्तु गृहस्थ सम्बन्धी झंझटों के कारण घर पर रहते हुए साधना सम्भव नहीं होती। अतः ऐसे मनुष्य गृहस्थ-सम्बन्धी समस्त कर्मों का परित्याग करके संन्यास ग्रहण करते हैं और एकान्त स्थान में रह कर साधना करते हैं। इस प्रकार के संन्यास को विविदिषा संन्यास कहा जाता है। विविदिष संन्यासी तीन श्रेणियों के होते हैं। प्रथम वे जिन्हें तीव्र वैराग्य होता है और इस कारण शान्त एकान्त अरण्य में रहने पर या विषयों के समीप रहने पर मन में कोई विकार नहीं होता। बुद्ध, शङ्कर, रामकृष्ण, परमहंस जैसे व्यक्ति इसी श्रेणी के कहे जा सकते हैं। दूसरी श्रेणी के व्यक्ति मध्यम वैराग्य वाले होते हैं। इन्हें विषयों की स्मृत्ति होने पर या विषयों का सम्पर्क होने पर मन को संयत करने में थोड़ा सा

---

१. शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥३।८॥

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥३।५॥

परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु वे उसपर विजय प्राप्त कर लेते हैं। संन्यास से इनकी भी कोई हानि नहीं होती। तीसरी श्रेणी के व्यक्ति अल्प वैराग्य वाले होते हैं। इस श्रेणी के संन्यासियों को अपने मन को संयत रखने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इनमें कुछ ऐसे होते हैं कि जो इसके लिये सावधानतापूर्वक परिश्रम करते हैं और अन्त में विजय प्राप्त कर लेते हैं। संन्यास से इनकी भी हानि नहीं होती। परन्तु इस श्रेणी में कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं कि जो क्षणिक वैराग्य होने पर संन्यासी बन जाते हैं और फिर थोड़ा सा भी विषय का सम्पर्क होने पर या कष्ट आ पड़ने पर विषयों की कामना करने लगते हैं। गीता ने दूसरे अध्याय में कहा है कि विषयों का ध्यान करने के संग, काम, क्रोध, संमोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और विनाश परिणाम होते हैं (२।६२, ६३)। यह कथन प्राय: इस कोटि के मनुष्यों के विषय में अधिक चरितार्थ होता है। योग-साधना करने वालों के लिए यह स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण होती है। यहाँ मन और इन्द्रियों को संयत करने का प्रयत्न करते रहने पर भी वे प्राय: वश से बाहर हो जाते हैं (२।६०)। ऐसी स्थिति में प्राय: साधना सम्भव नहीं होती। इस प्रकार के व्यक्तियों को लक्ष्य में रखकर ही गीता ने कहा है कि कर्मेन्द्रियों को कर्म से हटाकर जो मनुष्य मन से विषयों का स्मरण करता है वह मिथ्याचारी है (३।६)। मिथ्याचारी शब्द का अर्थ कुछ टीकाकारों ने दम्भी या ढौंगी किया है। दम्भी या ढौंगी उसे कहते हैं जो भीतर से कुछ और चाहता एवं करता है और बाहर से दूसरों को दिखाने के लिये दूसरा आचरण करता है। गीता ने जिस संन्यास के लिये मिथ्याचारी शब्द का प्रयोग किया है उसे इस प्रकार दंभी या ढौंगी नहीं कहा जा सकता। कारण, वह सच्चे हृदय से ज्ञान प्राप्त करने के लिए संन्यासी होता है और विषयों की स्मृत्ति आने पर सच्चे हृदय से मन और इन्द्रियों को संयत करने का प्रयत्न करता है। यह दूसरी बात है कि वह अपने परिश्रम में कम सफल होता है। कम से कम बाह्य-इन्द्रियों को संयत करने में तो सफल हो हो जाता है (कर्मेन्द्रियाणि संयम्य)। अत: यहाँ मिथ्याचारी शब्द का अर्थ यह करना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति का संयम रूप आचरण मिथ्या[1]

१. गीता-प्रबन्ध १।११।।

या सदोष है सच्चा या निर्दोष नहीं है। वह मोहवश (विमूढात्मा) जिसे संयम समझता है वह सच्चा संयम नहीं।

इस प्रकार की साधना करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा गीता की दृष्टि में वे मनुष्य श्रेष्ठ होते हैं जो कि मन को संयत करके उसके द्वारा इन्द्रियों को संयत करते हैं और उनके द्वारा अनासक्त भाव से योग रूप में कर्म करते हैं (३।७)। दूसरे शब्दों में जिन मनुष्यों को तीव्र वैराग्य नहीं है और इन्द्रियों पर पूरा संयम नहीं है उन्हें कर्म परित्याग की अपेक्षा योग रूप में कर्म करते हुए अनासक्ति का अभ्यास करना चाहिये, इस प्रकार करने से इन्द्रियों पर संयम प्राप्त करना सरल और लाभदायक होता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन मनुष्यों का मन और इन्द्रियों पर पूरा संयम है और वैराग्य भी पूरा है, क्या गीता उनके लिए संन्यास का निषेध करती है? निःसंदेह गीता ऐसे मनुष्यों के लिए संन्यास का निषेध नहीं करती है। गीता के अनुसार जिन मनुष्यों को इस प्रकारके सर्व-कर्म-परित्याग-रूप संन्यास मार्ग पर ही चलने की सच्ची आन्तरिक पुकार हो उन्हें इसे अपनाना ही चाहिए। दूसरा कोई उपाय नहीं है। बुद्ध, शङ्कर, रामकृष्ण परमहंस विवेकानन्द आदि के संन्यास सर्वथा गीता के अनुकूल हैं। अतः श्री अरविन्द लिखते हैं:

"एक ऐसी आन्तरिक परिस्थिति हो सकती है, जैसी कि गौतम बुद्ध के विषय में हुई। ऐसी परिस्थिति में अन्तर्यामी भगवान् के आदेश का पालन करने के लिए सभी कर्तव्य कर्मों का परित्याग कर देना, उन्हें दूर फेंक देना होता है। गीता कर्म-संन्यास का निषेध नहीं करती अपितु इसे भी भगवत्प्राप्ति के साधनों में से एक साधन मानती है। यदि कर्म, जीवन और समस्त कर्तव्यों के परित्याग के लिए प्रबल आन्तरिक पुकार हो तो समस्त कर्मों को आग लगा देनी चाहिये। इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। भगवान् की पुकार अलंध्य है। दूसरे कोई भी विचार उसके सामने नहीं ठहर सकते"[१]। इसलिए गीता ने संन्यास को भी मोक्ष का एक मार्ग माना है[२]। उसने कहा है कि कुछ

---

१. गीता प्रबन्ध ११४ ।।

२. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।।५।२।।

मनीषी कहते हैं कि दोष के समान कर्म का परित्याग कर देना चाहिए[1]। स्वयं भगवान् ने ही प्राचीनकाल में इस मार्ग का उपदेश दिया था।

सर्वकर्म-परित्याग-रूप संन्यास को मोक्ष का एक मार्ग स्वीकार करते हुए भी गीता इसे एकमात्र और अनिवार्य साधन नहीं मानती। अतः उसने कहा है कि संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त होती हो (और इसके बिना न हो) ऐसा नहीं है[3]। अनासक्त भाव से कर्म करते हुए मनुष्य परमपुरुष को प्राप्त कर लेता है[4]। जनकादि ने (बाह्य संन्यास ग्रहण किये बिना) कर्मों के ही द्वारा सिद्धि को प्राप्त किया था[5]।

गीता ने यद्यपि कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों को ही मोक्ष का साधन माना है किन्तु उसने कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ माना है[6]। इसलिए गीता ऐसे व्यक्तियों को जिन्होंने पूर्ण-ज्ञान प्राप्त किया है, एक ओर कर्म परित्याग की स्वतन्त्रता देती है, परन्तु साथ ही अनासक्त भाव से कर्म करने की प्रेरणा भी करती है। अतः वह कहती है, "जो आत्मा में रमण करता है, आत्मा में तृप्ति का अनुभव करता है, आत्मा के भीतर ही सन्तुष्ट रहता है उसके लिये कोई कर्तव्य कर्म नहीं है (३।१७)। उसे कर्म करके कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा है। परन्तु कर्म परित्याग से भी कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहा है (नाकृतेनेह कश्चन)। अतः इन्हें अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिये। इन्हें यद्यपि अपने व्यक्तिगत हित के लिये कर्म करने की आवश्यकता नहीं है, कारण, मानव जीवन के द्वारा एकमात्र प्राप्त करने योग्य वस्तु जो आत्मा या

---

१. त्याज्यं दोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनीषिणः ॥१८।३॥
२. लोकेऽस्मिन् द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ । ३।३।
३. न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति । ३ ॥
४. असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥३।१९।
५. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥३।२०।
६. संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥५।२।

ब्रह्म है उसे तो इन्होंने प्राप्त ही कर लिया है। किन्तु फिर भी लोक-हित के लिए कर्म करने की आवश्यकता है[1]। कारण, श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करते हैं वैसा ही दूसरे मनुष्य भी करने का प्रयत्न किया करते हैं (३।२१)। और ब्रह्मज्ञानी मनुष्य कोई साधारण कोटि का श्रेष्ठ नहीं होता। उसके आचरण का दूसरों पर बहुत तीव्र प्रभाव पड़ा करता है। यदि वह स्वयं कर्मों का परित्याग कर देता है तो इससे उसकी तो व्यक्तिगत रूप में हानि नहीं होती, परन्तु दूसरे साधारण मनुष्यों की होती है। कारण, साधारण मनुष्यों की प्रकृति राजसिक होती है, अतः वह उनमें अनेक प्रकार की कामनायें उत्पन्न किया करती है। वे कामनायें उन्हें अनेक प्रकार के कर्मों के करने की प्रेरणा किया करती हैं। परन्तु श्रेष्ठ मनुष्यों के कर्म-परित्याग का उदाहरण उन्हें कर्म-संन्यास की प्रेरणा करता है। इससे उनकी बुद्धि अपने लिए ठीक ठीक कर्तव्य कर्म का निर्णय नहीं कर पाती। न वह निश्चिन्त होकर कर्म ही कर सकती है और न कर्म-परित्याग ही। इससे उनकी बुद्धि में अर्जुन के समान भेद, वैषम्य, मोह और विषाद उत्पन्न हो जाते हैं। यदि सकाम मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ संन्यासी व्यक्तियों के उदाहरण का अनुकरण करके अपनी प्रकृति की कर्म करने की सच्ची प्रेरणा के विरुद्ध हठ से कर्म का परित्याग कर देगा तो वह फिर कुछ समय के पश्चात् विषयों का ध्यान करता हुआ, उनमें आसक्ति और उनकी कामना करेगा और इससे क्रोध, संमोह, स्मृति-विभ्रम, बुद्धिनाश और विनाश परिणाम होंगे। अथवा वह सत्त्वगुण की ओर प्रगति करने की अपेक्षा तमोगुण की अकर्मण्यता में फंस जायगा (मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः)। गीता ने ऐसा करने से मना किया है (मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि)। जो मनुष्य सकाम है वह सकाम भाव से भी यदि कर्म करता रहे तो कभी न कभी सकामता के दोषों का अनुभव करके निष्काम हो सकता है। परन्तु सब कुछ छोड़ बैठने वाला तो अपना उन्नति का मार्ग ही बन्द कर देता है। और ज्ञानी मनुष्यों के निष्काम कर्मों के उदाहरण से सकाम मनुष्यों को निष्काम बनने में सहायता मिलती है। ज्ञानी मनुष्य यह उदाहरण उपस्थित करता है कि किस प्रकार देश, धर्म और समाज के हित के

---

१. लोकसंग्रहमेवाऽपि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि ॥३।२०॥

लिए निष्काम कर्म किये जाते हैं; किस प्रकार प्रिय और अप्रिय, अनुकूल और प्रतिकूल घटनाओं में सम, निरहङ्कार, निर्द्वन्द्व रहते हुए अपने कर्तव्य का पालन किया जाता है; किस प्रकार देश और समाज के हित का प्रश्न उपस्थित होने पर अपने व्यक्तिगत शरीर, धन, परिवार आदि के मोह का परित्याग किया जाता है, मानापमान को सहन किया जाता है, अपने व्यक्तिगत शत्रुता के भाव को भुलाकर शत्रु को भी मित्र बनाना होता है। ज्ञानी मनुष्य के इस प्रकार के उदाहरणों को देखकर साधारण मनुष्य भी वैसा ही आचरण करने लगते हैं और निष्काम बनने लगते हैं। अतः गीता ने ज्ञानी मनुष्य को लोक-संग्रहार्थ कर्म करने का आदेश दिया है। वह कहती है कि अज्ञानी मनुष्य जिस प्रकार कर्म में आसक्त होकर कर्म किया करते हैं इसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य को अनासक होकर लोक-संग्रहार्थं कर्म करना चाहिए[1]। इसलिए श्रीअरविन्द ने इस विषय में इस प्रकार लिखा है :

"यदि ज्ञान प्राप्ति से पूर्व या ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर कर्मों का परित्याग अनिवार्य अवस्था हो तो मानव जीवन में सच्चे निष्काम कर्म का उदाहरण उपस्थित करने वाला कोई भी व्यक्ति नहीं होगा। इससे यह मानव जीवन अज्ञान, कामना और द्वन्द्वों की नृत्यशाला बना रहेगा"[2]

गीता ने सर्वकर्म-परित्याग रूप संन्यास को एक मोक्ष-मार्ग स्वीकार करते हुये भी सच्चा और श्रेष्ठ संन्यास बाह्य की अपेक्षा आंतरिक माना है और इस आंतरिक संन्यास में कर्मयोग और संन्यास दोनों की एकता कर दी है। अतः वह कहती है : "जिसने द्वेष, कामना और द्वन्द्वों का परित्याग कर दिया है वह सदा संन्यासी है। यज्ञादि कर्मों का परित्याग करने वाला सच्चा संन्यासी नहीं होता अपितु कर्म के फल में आसक्ति न रखकर कर्म करने वाला सच्चा संन्यासी होता है और वही सच्चा कर्मयोगी भी होता है। देहधारी के लिए

१. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥३।२५॥

२. Life Divine I. V.—58 (1939).

समस्त कर्मों का परित्याग संभव नहीं है, अतः कर्मफल का त्याग ही सच्चा त्याग है[1]। अपने भोजन, यज्ञ, दान, तप आदि समस्त कर्मों कोभ गवान् के अर्पण करने से मनुष्य कर्म के शुभ और अशुभ फलों के बन्धन से मुक्त हो जाता है और इस प्रकार संन्यास-योग के द्वारा भगवान् के साथ अपने आत्मा को युक्त करके मोक्ष और भगवान् को प्राप्त करता है (९।२७,२८)। चित्त से अपने समस्त कर्मों का भगवान् को अर्पण करना संन्यास है और इस प्रकार अर्पण भाव से किया हुआ युद्ध जैसा कर्म भी संन्यास ही है"[2]।

संन्यास मार्ग के पक्षपाती टीकाकारों ने इन श्लोकों के अर्थों की खींचातानी करके यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि गीता कर्मयोग की अपेक्षा कर्म-संन्यास को श्रेष्ठ बतलाती है। परन्तु निष्पक्ष भाव से देखने पर पता चलता है कि गीता ने साधक और सिद्ध दोनों के लिये कर्मयोग की श्रेष्ठना स्पष्टरूप में बतलाई है, यद्यपि वह अधिकारी भेद से संन्यास की उपयोगिता को अस्वीकार नही करती और उसे भी मोक्ष का एक मार्ग मानती ही है।

* * * * * *

गीता ने यद्यपि कर्मयोग को कर्मसंन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह मीमांसकों के समान ज्ञान को निरर्थक या निकृष्ट मानती है। इसके विपरीत उसने तो यह स्पष्ट कहा है कि ज्ञान के

---

१. ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्ठि न कांक्षति।
निर्द्वन्दो हि महाबाहो सुखं बंधात् प्रमुच्यते ॥५।३॥
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥६।१॥
नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥१८।११॥

२. मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीनिर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३।३०॥

सदृश पवित्र दूसरा कुछ भी नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते)। इस ज्ञान के प्रकट होने में यद्यपि कर्म सहायक हो सकते हैं किन्तु यह कर्मों से इस प्रकार उत्पन्न नहीं होता जिस प्रकार कि मीमांसकों के यज्ञादि कर्मों से अदृष्ट या पुण्य और फिर अदृष्ट से स्वर्गादि फल। गीता के अनुसार यह आत्मा का स्वरूप-भूत है इसे कहीं बाहर से नहीं प्राप्त करना होता (तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति)। गीता सांख्य और वेदान्त के इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है कि अज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है[1]। वह आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान को मीमांसकों के समान कर्म का अंग नहीं मानती अपितु समस्त कर्मों का लक्ष्य और एक स्वतंत्र पदार्थ मानती है[2]। वह संन्यास मार्गियों के समान ज्ञान और कर्म को प्रकाश और अंधकार के समान विरोधी नहीं मानती। वह इनकी एक साथ विद्यमानता को स्वीकार करती है और इन्हें परस्पर में सहायक मानती है। इसलिए पूर्णज्ञानी भगवान् ने स्वयं अपना उदाहरण उपस्थित करते हुए ज्ञानी को कर्म करने का आदेश दिया है[3]।

* * * * * *

गीता के निष्काम कर्मयोग के विरोध में ज्ञान-मार्ग और संन्यास-मार्ग की ओर से यह कहा जाता है कि मनुष्य की कर्म में प्रवृत्ति कामना-जन्य होती है। अतः जब तक मनुष्य कर्म करता रहेगा तब तक उसमें कामना का विद्यमान रहना अनिवार्य है। कामना के दूर होते ही कर्म का होना सम्भव नहीं है। इसलिए पूर्णतया निष्काम होने के लिए कर्म का परित्याग करना और संन्यास ग्रहण करना आवश्यक है। संन्यास मार्ग के इस कथन का आधार हमारी निम्न

---

१. ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥ (५।१६)
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (५।१७)

२. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। (४।३३)

३. ३।२१, २५॥

कोटि की प्रकृति का ज्ञान है, हमारी दैवी प्रकृति का, हमारी उच्चतर सम्भावनाओं का ज्ञान नहीं है। जबतक मनुष्य निम्नतर प्रकृति का दास रहता है और उसमें रजोगुण की प्रधानता रहती है तबतक उसके कर्म प्राय: कामना-जन्य हुआ करते हैं। परन्तु समस्त कर्मों का कामना-जन्य होना अनिवार्य नहीं है। सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाने पर या त्रिगुणतीत हो जाने पर अथवा अपरा प्रकृति के दैवी प्रकृति के रूप में परिणत हो जाने पर कामना के बिना ही कर्म हुआ करते हैं। अनेक महात्माओं के जीवनों में निष्काम कर्मों के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती को उनके रसोइये ने विष दे दिया। स्वामी दयानन्द ने यह सोचकर कि कहीं वह पकड़ा न जाय और विपत्ति में न फंस जाय उसे रुपये देकर दूर चले जाने का आदेश दिया। स्वामी दयानन्द का यह कार्य कामना-जन्य नहीं कहा जा सकता। यह शुद्ध दया भाव से प्रेरित ही हो सकता है। बहुधा साधारण वृद्ध माता-पिता अपनी मृत्यु को समीप देखते हुए भी अपने नन्हें-नन्हें पुत्रों और पौत्रों का पालन-पोषण किया करते हैं। उन्हें लेशमात्र भी उनसे सुख की आशा नहीं होती। अतः उनका यह कार्य शुद्ध वात्सल्य, स्नेह या मोह-जन्य ही हो सकता है, कामना-जन्य नहीं। बहुत से देशभक्त अपने देश के लिए बलिदान किया करते हैं। इनमें अनेक ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें दूसरे जन्म में विश्वास नहीं होता। अतः उन्हें लेशमात्र भी यह आशा नहीं होती कि इस जन्म में या अगले जन्म में उनके कर्मों का स्वयं उन्हें फल मिलेगा। अतः उनका यह कर्म शुद्ध देश-भक्ति-जन्य ही होता है, कामना-जन्य नहीं। बुद्ध ने निर्वाण के द्वार पर पहुँचकर प्रतिज्ञा करी कि जब तक एक भी प्राणी अज्ञान और दुःख में फंसा है तब तक मैं निर्वाण को स्वीकार नहीं करूंगा। बुद्ध का यह कर्म कामना-जन्य नहीं कहा जा सकता। शुद्ध लोकहित (लोकसंग्रह) के लिए ही हो सकता है।

भगवान् स्वयं अपनी दैवी प्रकृति में, अपने दिव्य भाव में स्थित रहते हुए संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किया करते हैं। वे मानव देह धारण करके धर्म की रक्षा किया करते हैं। उनके इस कर्म के मूल में कोई कामना

नहीं होती[1]। जिस समय मनुष्य की त्रिगुणमयी अपरा-प्रकृति दैवी-प्रकृति के रूप में परिणत हो जाती है और रजोगुण शुद्ध तप या चित्शक्ति की क्रिया का रूप धारण कर लेता है तो उस समय योगी दैवी प्रकृति या दिव्यभाव में स्थित होकर कर्म किया करते हैं। उस समय कर्मों की प्रवृत्ति कामना से न होकर स्वयं भगवान् की ओर से होती है और उनकी दैवी-प्रकृति के द्वारा उनका अनुष्ठान होता है। अतः कर्मों का कामना-जन्य होना अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार गीता के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर लोक संग्रहार्थ निष्काम कर्मों का होते रहना सम्भव और अभीष्ट है और यह कर्म-संन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ है, यद्यपि यहाँ किसी विशेष प्रकार के कर्मों का बन्धन नहीं है।

* * * * * *

गीता ने जो कर्मयोग पर इतना अधिक बल दिया है इसका गहरा रहस्य श्री अरविन्द के पूर्णयोग में स्पष्ट दिखलाई देता है। प्रायः अधिकाँश भारतीय दर्शनों का और विशेषकर ज्ञानमार्गियों का यह मत रहा है कि जीवात्मा का पृथ्वी पर अस्तित्व ही दुखमय है[2]। इस दुखमय पार्थिव जीवन से सदा के लिए छूट जाना ही मानव जीवन का एकमात्र सर्वोच्च लक्ष्य है[3]। आत्मा अकर्ता है और अज्ञानमयी प्रकृति या माया समस्त कर्म करने वाली है। वह जब कर्म करती है तो जीवात्मा को अज्ञान और कामना के बन्धन में फंसाकर ही कर्म करती है। अत; इस प्रकृति या माया के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का सीधा-सादा उपाय हो जाता है कर्म परित्याग करना और कूटस्थ शान्त आत्मा या ब्रह्म में स्थित हो जाना। यहाँ यदि मनुष्य दूसरे जीवों से हर प्रकार के सम्बन्धों का विच्छेद करके व्यक्तिगत रूप से एकान्त में रहता हुआ ब्रह्म में लीन हो जाता है तो वह प्रकृति के बन्धन से, जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है और अपने

---

१. न माँ कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ॥३।१४॥

२. दुःखमेव सर्व विवेकिनः। (योगसूत्र २।१५)
सर्वं दुखं दुःखम् ॥ बौद्धमत

३. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। साँख्य सूत्र

मानव जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। परन्तु श्री अरविन्द के दृष्टिकोण से यह मुक्ति एक मध्यवर्ती भूमिका है, मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य नहीं है। मानव जीवन का उच्चतम लक्ष्य है मनुष्य का अपने मन, प्राण और शरीर में भगवान् की अतिमानस ज्योति, शान्ति, शक्ति और आनन्द का अवतरण करके उनका दिव्य रूपान्तर करना, फिर अपने दिव्यभावापन्न मन, प्राण और शरीर के द्वारा इस दिव्य ज्योति, शान्ति, शक्ति और आनन्द का दूसरे प्राणियों में संचार करते हुए उनके जीवन को दिव्य बनाने में सहयोग देना और इस प्रकार अपने और दूसरे मनुष्यों के जीवन को अधिकाधिक दिव्य बनाते हुए मानव जाति को देव जाति के रूप में परिणत करना, पृथ्वी पर एक नवीन देव जाति की सृष्टि करना और यहाँ सदा के लिए सत्ययुग या दिव्ययुग की स्थापना करना।

श्री अरविन्द के दृष्टिकोण से मानव जीवन का यह दिव्य रूपान्तर तभी संभव हो सकता है जबकि मनुष्य मानव जीवन के विविध क्षेत्रों में रहता हुआ अपनी प्रकृति के अनुसार हर प्रकार के आवश्यक कर्म करता है (स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत्)। कर्मों के परित्याग रूप संन्यास से यह कार्य नहीं हो सकता; कारण, कर्म परित्याग कर देने पर शांत निष्क्रिय ब्रह्म का अनुभव होता है और उससे ही तादात्म्य होता है, सक्रिय ब्रह्म से नहीं। परन्तु मानव प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के लिए जिस अतिमानस शक्ति के अवतरण और उसकी क्रिया की आवश्यकता होती है उसकी पूर्ति क्रियात्मक पुरुष के साथ तादात्म्य से ही संभव होती है। और इस तादात्म्य के लिये कर्म करना अनिवार्य है। इसप्रकार श्री अरविन्द के दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि गीता ने जो निष्काम कर्मयोग को इतना अधिक महत्व दिया है और उसे सर्व-कर्म-परित्याग-रूप कर्म-संन्यास से श्रेष्ठ कहा है इसके भीतर भावी युग में आने वाले दिव्य कर्मयोग का बीज गुप्त रूप में निहित है।

नवा परिच्छेद

यज्ञ का रहस्य

(१)

वैदिक यज्ञ

बुद्धियोग में गीता ने निष्काम भाव से कर्म करने का आदेश दिया है। इसके विरुद्ध संन्यासवाद की ओर से यह आपत्ति उठाई जाती है कि कर्म कामना-जन्य ही हुआ करते हैं। प्रत्येक कर्म के मूल में कुछ न कुछ कामना अवश्य विद्यमान रहती है। इसके उत्तर में गत प्रकरण में यह दिखलाया जा चुका है कि जब तक मनुष्य की प्रकृति राजसिक रहती है तभी तक उसके कर्म कामना-जन्य होते हैं। प्रकृति के शुद्ध, सात्त्विक या दिव्य हो जाने पर या मनुष्य के त्रिगुणातीत हो जाने पर निष्काम भाव से कर्म हो सकते हैं।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि यह माना कि जिस मनुष्य की प्रकृति सात्त्विक या दिव्य हो गई है अथवा जो त्रिगुणातीत हो गया है वह निष्काम भाव से कर्म कर सके। परन्तु जनसाधारण की प्रकृतितो प्रायः राजसिक ही होती है। कुछ व्यक्तियों को छोड़कर जो बहुत दुर्लभता से मिलेंगे—सर्वसाधारण को धन स्वास्थ्य, घर, संतान, भूमि, पशु, मान आदि की काननायें रहती हैं और यही उन्हें कर्म में प्रवृत्त किया करती हैं। यदि उनमें इस प्रकार की कामनायें न हों अथवा उन्हें किसी कर्म के द्वारा इस प्रकार के किसी फल के न मिलने की आशा न हो तो वे कर्म में प्रवृत्त ही न हों। इसलिए गीता ने कहा है कि अज्ञानी मनुष्य कर्म में आसक्त होकर कर्म किया करते हैं (३।२५)। अतः प्रश्न है कि जिस मनुष्य में अनेक प्रकार की कामनायें विद्यमान हैं वह किस विधि से कर्म करे कि जो वह निष्काम बन जाय ? केवल यह कह देने मात्र से कि निष्काम

होकर कर्म करो—साधारण मनुष्य के लिये निष्काम होना संभव नहीं है। साधारण सकाम मनुष्य के लिए कोई न कोई साधन ऐसा अवश्य होना चाहिए कि जिससे वह अपनी कामनाओं की पूर्ति भी करता रहे और निष्काम भी हो जाय। इस प्रश्न का उत्तर, इस समस्या का समाधान गीता कर्मयोग के दूसरे अंग यज्ञार्थ कर्म में देती है। वह कहती है :

"याज्ञर्थ कर्म से भिन्न कर्म मनुष्य के लिये बन्धन का कारण होते हैं। अतः हे कुन्ति पुत्र अर्जुन ! मुक्त-संग होकर यज्ञार्थ कम करो प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि करते समय यज्ञ की सृष्टि भी करी और फिर अपनी प्रजा से कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम अपनी वृद्धि (उन्नति) करो। यह (यज्ञ) तुम्हारी अभीष्ट कामवाओं की पूर्ति करने वाला होगा। इससे तुम देवताओं को संतुष्ट करो और देवता तुम्हें संतुष्ट करें। इस प्रकार एक दूसरे को संतुष्ट करते हुए तुम परम श्रेयः को प्राप्त कर लोगे" (३६।११)।

इन श्लोकों में गीता ने जो यज्ञ को अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति और परं-श्रेय की प्राप्ति का साधन बतलाया है और अर्जुन को मुक्तसंग अर्थात् फल में आसक्ति या कामना का परित्याग करके यज्ञार्थ कर्म करने का आदेश दिया है इसमें ही उसने गुप्तरूप में यह भाव निहित किया है कि सकाम भाव से यज्ञ करने पर निष्कामता आ जाती है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि गीता ने दूसरे स्थानों पर कहा है कि भोग, ऐश्वर्य और स्वर्गादि फलों की कामना से यज्ञ करने वाले मनुष्य अविपश्चित् होते हैं। उनकी बुद्धि समाधि में स्थित नहीं होती (२।४२,।४४)। ऐसे मनुष्य स्वर्गीय सुखों का भोग करके पुण्य-क्षीण हो जाने पर फिर मर्त्यलोक में जन्म ग्रहण करते हैं (६।२०,२१)। भिन्न भिन्न कामनाओं से यज्ञ करने वाले अल्प-मेधस् होते हैं, उनका फल अन्त वाला होता है (७।२३)। उपनिषदों में भी कहा गया है कि यज्ञ दुर्बल नौका के समान होते हैं। जो मनुष्य उन्हें श्रेयस्कर मानते हैं वे मूढ़, बाल, प्रमूढ़ होते हैं (मुण्डक १।२।७,८)। अतः जब इस प्रकार सकाम यज्ञों की निन्दा की गई है तो यह कैसे समझा जाय कि इन यज्ञों के अनुष्ठान से निष्कामता और परमश्रेय की प्राप्ति हो सकती है ?

इस प्रश्न का उत्तर यज्ञ शब्द के भीतर जो गहरा भाव विद्यमान है उससे मिलता है। मीमांसा शास्त्र ने यज्ञ का लक्षण किया है "देवतोद्देशन द्रव्यत्यागो याग:"। इसका तात्पर्य यह है कि किसी देवता को लक्ष्य रखते हुए, विशेष विधि के अनुसार, वैदिक मन्त्रों के साथ, अग्नि में घृत आदि पदार्थों की आहुति डालना यज्ञ है। मीमांसा के अनुसार यह यज्ञ तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य कर्म वे होते हैं जिनके न करने में पाप होता है, जैसे अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास चातुर्मास्य, आग्रयण, पशुबन्ध; अग्निष्टोम इत्यादि। नैमित्तिक कर्म वे होते हैं जो किसी निमित्त के उत्पन्न हो जाने पर किये जाते हैं— जैसे स्त्री या गाय से जुडवां सन्तान होने पर, घर में अग्नि लगने पर अथवा भूल से यज्ञ का कोइ अङ्ग छूट जाने पर। काम्य कर्म वे होते हैं जो कि धन, पुत्र, वृष्टि, स्वर्ग आदि प्राप्त करने की कामना से किए जाते हैं, जैसे पुत्रेष्टि, वृष्टिकामेष्टि, ज्योतिष्टोम इत्यादि। इसके अतिरिक्त यज्ञ के श्रौत और स्मार्त ये भी दो भेद किए जाते हैं। श्रौत यज्ञ के दो भेद होते हैं—हवि: संस्था और सोम संस्था।

मीमांसा के अनुसार यज्ञ शब्द प्राय: इन स्थूल कर्मों के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। परन्तु प्राचीन वैदिक-काल में यज्ञ के सर्वथा दो रूप होते थे—बाह्य और आन्तरिक, भौतिक और मनोवैज्ञनिक तथा आध्यात्मिक, यज्ञ का बाहरी अनुष्ठान और उसके द्रव्य, देवता तथा क्रियाओं का आन्तरिक आध्यात्मिक अभिप्राय[1]। यज्ञ का आन्तरिक अभिप्राय था मनुष्य का अपने-आपको, जो कुछ भी वह अपनी सत्ता में है और जो कुछ भी वह अपने पास रखता है उस सब को भगवान् को या उसकी दैवी शक्ति को अर्पण कर देना। इनके प्रसाद से जो धन या ऐश्वर्य प्राप्त किया जाता था वह था दिव्य ज्योति, दिव्य-शक्ति, दिव्य-आनन्द। यज्ञ का लक्ष्य था उच्च या दिव्य-सत्ता को जीतना और निम्न मानव सत्ता को इस दिव्य-सत्ता से युक्त कर देना और इसके नियम एवं सत्य के आधीन कर देना। यज्ञ की अग्नि का अर्थ था ईश्वर की हममें दिव्य इच्छा-शक्ति जो कि पूर्ण-ज्ञान से युक्त है। यह मनुष्य को सन्मार्ग के द्वारा ऊपर दिव्य भाव की

---

१. गीता प्रबन्ध १।१२।।

ओर ले जाती है (अग्ने नय सुपथा)। मनुष्य जो कुछ उच्च शक्तियों को अर्पण करता है उसे वह वहाँ ले जाती है और उसके बदले में दिव्य-ज्योति, दिव्य-शक्ति और दिव्य-आनन्द रूप धन (राये अस्मान्) को मानवसत्ता में लाती है। इन्द्र ऊपर रहने वाली वह शक्तिमयी-ज्योति है जो कि ऊपर से अवतीर्ण होती है और अपनी विद्युत्-शक्ति के द्वारा मनुष्य के भीतर से अज्ञान-रूपी अन्धकार और भेद को दूर करती है, उसके भीतर अन्तर्ज्ञान और अन्त:प्रकाश-रूपी जलों की वृष्टि करती है घृत का अभिप्राय था मानवीय मनोवृत्ति के भीतर सौर प्रकाश की निर्मलता या चमक। सोमरस का अर्थ था सत्ता का अमृत-रूप आनन्द, जो कि जलों में और सोम नामक लता में निगूढ़ रहता है और देवों तथा मनुष्यों के द्वारा पान करने के लिए निचोड़ा जाता है। यज्ञ से जो गो अश्व आदि धन प्राप्त किया जाता था, यहाँ गो का तात्पर्य था ज्ञान की ज्योतियाँ, सत्य के विचार। अश्व का अर्थ था इन ज्ञान-ज्योतियों के साथ रहने वाली सत्य की शक्तियाँ जो कि मानव-जीवन पर अधिकार करती हैं[1]।

प्राचीन ऋषियों ने प्रत्येक श्रेणी के मनुष्यों की आवश्यकताओं को अपनी निर्भ्रान्त सत्य सूक्ष्म-दृष्टि से देखकर ोनों प्रकार के यज्ञों का आविर्भाव किया था। जिन मनुष्यों को स्थूल धन, सन्तान, गो, अश्व आदि पदार्थों की कामनायें होती हैं उनके लिये यज्ञों के बाह्य-रूप हैं और जिन्हें आध्यात्मिक भूख होती है उनके लिए आन्तरिक आध्यात्मिक रूप। और स्थूल यज्ञों का उद्देश्य यह था कि इनके द्वारा मनुष्य अपनी स्थूल काकनाओं की पूर्त्ति करता हुआ आन्तरिक आध्यात्मिक यज्ञ करना सीख जाय। परन्तु समय बीतने पर यज्ञों का आन्तरिक अर्थं विस्मृत हो गया और मनुष्यों की प्रवृत्ति केवल बाहरी यज्ञों की ओर रह गई। गीता के समय में यह आन्तरिक अर्थ और भी अधिक विस्मृत हो चुका था, जैसा कि विवस्वान् मनु आदि को बतलाया हुआ कर्मयोग। इसलिए गीता ने एक ओर मीमांसकों के स्थूल यज्ञ के भाव को स्वीकार किया है और दूसरी ओर उसने प्राचीन वैदिक आन्तरिक आध्यात्मिक भाव को भी अपनाया है।

१.वेद रहस्य १।२४।।

परन्तु उसने इन दोनों की एकता करके उसे योग और वेदान्त के भाव से मिलाकर व्यापक दार्शनिक भाषा में वर्णन किया है[1]।

गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते हैं प्रथम वे कर्म जो कि बिना यज्ञ के केवल सकाम भाव से किए जाते हैं। दूसरे वे कर्म जो कि वैदिक विधि के अनुसार सकाम यज्ञ के रूप मे देवताओं को अर्पण किए जाते हैं। तीसरे कर्म जोकि निष्काम भाव से एकमेवाद्वितीय पुरुषोत्तम का अर्पणरूप किए जाते हैं। पहले कर्मों की भूमिका में मनुष्य का जीवन पूर्णतया आहंकारिक होता है। यहाँ मनुष्य कुछ अपनी आवश्यकताओं का अनुभव करके उनकी पूर्त्ति की कामना करता है (अमुक कामोऽहम्)। फिर वह उन कामनाओं से प्रेरित हुआ कर्म करता है और अपने-आपको उनका कर्त्ता समझता है (अहंकर्त्ता) है। इस कर्म के परिणाम-स्वरूप जो फल मिलता है उसे अपने परिश्रम से प्राप्त हुआ जानकर मेरा यह फल है (ममेदं फलं) ऐसा मानता है। फिर वह अपने परिश्रम से प्राप्त फल का स्वयं भोग करना चाहता है (अहं भोक्ता)। इस प्रकार वह चतुर्मुखी अहंकार का दास होता है। यहाँ उसके मन में यज्ञ की लेशमात्र भी भावना नहीं होती। उसे अच्छे या बुरे कर्मों का विवेक नहीं होता, यदि विवेक होता भी है तो बुरे कर्मों के परित्याग और अच्छे कर्मों के अनुष्ठान की इच्छा या बल नहीं होते। वह दूसरों से अधिक से अधिक छीन लेने के लिए कठोर परिश्रम करता है और जो कुछ उसके हाथ लगता है उस सबका स्वयं भोग कर लेना चाहता है। ऐसे मनुष्य को लक्ष्य में रखकर वेद ने कहा है कि वह न किसी श्रेष्ठ मनुष्य को देता है और न अपने सखा को। वह हृदय-हीन होता है। वह अकेला भोग करता है, वह केवल पाप का भक्षण करता है और उसका यह भोग उसके लिए मृत्युरूप होता है[2]। ऐसे मनुष्य के विषय में गीता ने कहा

---

१. गीता प्रबन्ध १।१२ ॥

२. मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः सत्यं वदामि वध इत स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋग्वेद १०।११७।६)

है कि वह चोरी से भोग करता है (स्तेन भुंक्ते ३।१२)। वह पाप का भोजन करता है (भुजंते अघं ३।१३)। उसका जीवन पापमय है, व्यर्थ है (मोघं जीवति ३।१६)। इसके लिए न यह लोक सुख-प्रद होता है और न परलोक (४।१३)। इस आहंकारिक कामना और भोगविलास-मय जीवन वाले मनुष्य की प्रकृति कभी कभी आसुरी भी हो जाती है। इस जीवन में उसे बहुत अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं, अतः गीता ने इसे अनित्य, असुख कहा है। ऐसे ही मनुष्यों को गीता ने नराधम, दुष्कर्मी (दुष्कृतिनः) और मूढ कहा है। इन्हें ही अविद्वान्, अज्ञानी, अकृत्स्नविद् और मन्द भी कहा है। पहली श्रेणी के कर्म करने वाले मनुष्यों की यही भूमिका है।

इस प्रकार का आहंकारिक जीवन व्यतीत करते करते उच्चकोटि के विद्वानों के संसर्ग से उसे यह ज्ञान होता है कि विश्व में मनुष्य से उच्चकोटि की शक्तियाँ भी हैं। इन शक्तियों को देवता कहा जाता है। मनुष्य के पास अधिक या कम जो भी धन और शक्ति होते हैं यदि वह उनका कुछ अंश यज्ञ-रूप में उन देवताओं को अर्पण करे तो उनके प्रसाद से उसे उसके अभीष्ट पदार्थ सरलता से मिल सकते हैं। उसे उनके प्रसाद से उच्चकोटि के शारीरिक स्वास्थ्य, बल और मेधा भी प्राप्त हो सकते हैं। वे दुःखों से भी उसकी रक्षा कर सकते हैं। यह ज्ञान होने पर वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार वैदिक विधि से यज्ञ करने लगता है। यहाँ वह मीमांसकों के सकाम यज्ञ की भूमिका में प्रवेश करता है। अपने-आपको कर्ता मानता है और उससे प्राप्त फल का स्वयं भोग करना चाहता है। परन्तु यहाँ वह फल को अपने परिश्रम से प्राप्त न मानकर देवताओं के प्रसाद से प्राप्त हुआ मानता है। अतः उसके अहंकार का कुछ अंश कम हो जाता है। इस प्रकार यज्ञ करते करते जब उसे धन, स्वास्थ्य, बल और मेधा आदि प्राप्त होते हैं और इनके द्वारा वह अनेक प्रकार के यज्ञ करता रहता है तो उसे यह अनुभव होने लगता है कि वह जो इतने यज्ञ करता है यह देवताओं से प्राप्त सामग्री के कारण है। अतः इस समय मैं ही यह सब यज्ञ करने वाला हूँ (अहं कर्त्ता) यह अहंकार की भावना कम हो जाती है। इसके अनन्तर यज्ञ करते करते उसे यज्ञ में भीतर से एक प्रकार का आनन्द आने लगता है। उस समय उसमें बाहरी सुख-भोग की कामना कम हो जाती है

और वह केवल शास्त्र की आज्ञा का पालन करने के लिए कर्त्तव्य भाव से, अथवा यज्ञ करने में जो भीतर से आनन्द आता है उसे अनुभव करने के लिए यज्ञ करने लगता है। इस समय उसके भीतर से अहंकार के चारों रूप (अमुक कामोऽहम्, अहं कर्त्ता, ममेदं फलं, अहं भोक्ता) बहुत कुछ क्षीण हो जाते हैं। उस समय यज्ञों के प्रभाव से जो उच्चकोटि की मेधा उसे प्राप्त होती है उसके द्वारा उसे यह भी अनुभव होने लगता है कि यह सब देवता एकमेव परमदेव, देवाधिदेव, देव-देव के भिन्न भिन्न रूप या शक्तियाँ हैं। तब वह एकमात्र इस परमदेव की प्राप्ति के लिये यज्ञ करता है न कि किसी लौकिक या स्वर्गीय भोग की प्राप्ति के लिए। उस समय वह इसके लिए केवल वैदिक यज्ञों को ही नहीं करता अपितु जीवन के समस्त कर्मों को यज्ञ-रूप में करता है। उन कर्मों को किसी देवता-विशेष के अर्पण न करके समस्त यज्ञों के एकमात्र प्रभु और भोक्ता उसी परमदेव को अर्पण करता है। यही वह सच्चा और उच्च कोटि का यज्ञ है जिससे परम श्रेय या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अतः वैदिक यज्ञ सकाम भाव से किए जाने पर भी अन्तःकरण को शुद्ध करके निष्कामता उत्पन्न करते हैं और परम्परा से मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं। इस कारण गीता ने उन्हें परंश्रेय की प्राप्ति का साधन कहा है।

गीता ने जो यह कहा है कि सकाम यज्ञों के करने वाले अविपश्चित्, अल्पमेधस् होते हैं, देवताओं के लिए किए जाने वाले यज्ञ अविधिपूर्वक होते हैं—इससे उसका अभिप्राय यज्ञ की निरर्थकता को सिद्ध करना नहीं है। अधिकारी भेद से गीता इन सकाम यज्ञों की उपयोगिता को स्वीकार करती ही है, यद्यपि वह निष्काम यज्ञ को सकाम की अपेक्षा श्रेष्ठ मानती है। अतः भगवान् ने कहा है कि जो अन्य देवताओं के लिए यज्ञ करते हैं वे मेरे लिए ही यज्ञ करते हैं (९।२३)। समस्त यज्ञों का भोक्ता और प्रभु मैं ही हूँ। इसके अतिरिक्त, गीता ने चौथे अध्याय में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन करके अन्त में कहा है कि इन समस्त यज्ञों के जानने वाले यज्ञों के द्वारा अपने दोषों को दूर करते हैं। इन यज्ञों में देवताओं के निमित्त किए जाने वाले सकाम यज्ञ, द्रव्य यज्ञ भी सम्मिलित हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि गीता की दृष्टि में सकाम

यज्ञ भी पवित्र करने वाले होते हैं। इसी प्रकार उसने अठारहवें अध्याय (१८।५,६) में कहा है कि यज्ञ, दान और तप का परित्याग नहीं करना चाहिए, कारण ये मनीषियों को पवित्र करने वाले होते हैं। परन्तु इन कर्मों को भी आसक्ति और फल का त्याग करके करना चाहिए। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि कोई मनुष्य फल में आसक्ति का परित्याग न कर सके तो क्या वह यज्ञ ही न करे? यदि सकाम भाव से किए जाने वाले कर्मों से केवल कामनापूर्ति ही होती हो और इसके परिणाम-स्वरूप केवल बन्धन ही फल मिलता हो तो उनका करना केवल निरर्थक ही नहीं अपितु हानिकारक होगा और ऐसी अवस्था में गीता का इनके करने पर आग्रह करना उचित न होगा। इसलिए गीता के इन समस्त वचनों को निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि जिन यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों के करने के लिए गीता ने इतना आग्रह किया है वे चाहे सकाम-भाव से हों या निष्काम-भाव से, दोनों रूपों में किए जा सकते हैं और हर अवस्था में लाभप्रद होते हैं। सकाम-भाव से करने पर अन्तःकरण को शुद्ध करके निष्कामता और परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं और निष्काम-भाव से करने पर मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

गीता एक वैदिक धर्म का ग्रन्थ है। उसने यद्यपि मीमांसकों के वैदिक यज्ञों की उपयोगिता को स्वीकार किया है और उसके तीसरे अध्याय में जो यज्ञ का वर्णन है वह बहुत कुछ मीमांसकों के यज्ञ जैसा ही है। परन्तु गीता यज्ञ को मीमांसकों के यज्ञ की सीमा में बद्ध नहीं करती। वह उसे व्यापक अर्थ प्रदान करती है। यदि हम इसे मीमांसकों के अनुसार केवल स्थूल रूप में ग्रहण करें तो इसका यह तात्पर्य निकलेगा कि "यज्ञ का अर्थ हैं कुछ विशेष वैदिक मन्त्रों के पढ़ते हुए विशेष विधि के साथ स्थूल अग्नि में घृत आदि पदार्थों की आहुति डालना, इन्हें इन्द्रादि देवताओं के अर्पण करना और इनके बदले में धन, सन्तान, ऐश्वर्य प्राप्त करना। और इन्हीं कर्मों के अनासक्त भाव से करने से मोक्ष या परंश्रेय की प्राप्ति होती है। अतः मुमुक्षु को भी जीवन पर्यन्त इन्हीं कर्मों को करते रहना चाहिए।" परन्तु इसे इस अर्थ में लेने पर अनेक दोष आते हैं। प्रथम यह कि गीता ने जो चतुर्थ अध्याय में यज्ञ की व्यापक रूप से व्याख्या की है, जिसमें कि

इन्द्रियों के समस्त कर्म यज्ञ-रूप हो जाते हैं, उसके यह विरुद्ध है। दूसरे गीता ने यज्ञ को पवित्र करने वाला और मोक्षप्रद माना है और ऐसा ही उसने ज्ञान[1] और भक्ति[2] को भी माना है। अतः उपर्युक्त भाव गीता के इन भावों के विरुद्ध होगा। इसके अतिरिक्त चूंकि वैदिक यज्ञों के करने का अधिकार कुछ त्रैवर्णिक कहे जाने वाले हिन्दुओं को ही है, अतः गीता मनुष्यमात्र का कल्याणकारी सार्वभौम विश्व-धर्म-ग्रन्थ न होगा, अपितु एक संकीर्ण साम्प्रदायिक ग्रन्थ हो जाएगा। अतः गीता के यज्ञ के भाव को इसकी दूसरे स्थानों पर की हुई व्याख्या के साथ संगति करके देखना चाहिए तभी हम इसे यथार्थ और पूर्णरूप में समझ सकते हैं।

---

१. अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥४।३६॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥४।३७॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥४।३८॥
ज्ञानं लब्धा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥४।३९॥

२. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥९।१०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ॥९।३१॥
मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥९।३२॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदन्तरम् ॥१८।५५॥

दसवां परिच्छेद

यज्ञ का रहस्य

(२)

यज्ञ का व्यापक रूप

चतुर्थ अध्याय में यज्ञ की व्याख्या करते हुए गीता कहती है :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥४।२४॥

यहाँ यज्ञ की क्रिया, द्रव्य, अग्नि, होता और फल आदि में ब्रह्म की भावना की गई है। उपनिषदों में बतलाया गया है कि यह भौतिक द्रव्य ब्रह्म है (अन्नं ब्रह्म), प्राण ब्रह्म है (प्राणं ब्रह्म), मन ब्रह्म है (मनो ब्रह्म), जीवात्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म), अग्नि सूर्य आदि समस्त पदार्थ ब्रह्म हैं (सर्वं खल्विदं ब्रह्म)। इस एकमेवाद्वितीय ब्रह्म के विश्वव्यापी ज्ञान को गीता ने यज्ञ की आलंकारिक भाषा में वर्णन किया है। यज्ञ में जो घृत आदि पदार्थ अर्पण किया जाता है वहाँ अर्पण क्रिया ब्रह्म है, कारण विश्व में जो भी कर्म होते हैं उन सबका करने वाला एकमात्र ब्रह्म है, ब्रह्म की शक्ति है। ब्रह्म ही उस क्रिया का रूप धारण

करता है[1]। अथवा जिस देवता को यज्ञ अर्पण किया जाता है वह ब्रह्म है, कारण समस्त देवता उस एक ही परब्रह्म के रूप होते हैं। जिस घृत आदि पदार्थ की आहुति दी जाती है वह ब्रह्म है, कारण वनस्पति, अन्नादि पदार्थ उस ब्रह्म के ही व्यक्त रूप हैं (अन्नं ब्रह्म)। जिस अग्नि में आहुति डाली जाती है वह भी ब्रह्म का ही रूप होने से ब्रह्म है। आहुति डालने वाला पुरोहित या यजमान ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म)। इस यज्ञ के द्वारा जिस धन, पुत्र आदि की प्राप्ति लक्ष्य होती है वह प्राप्तव्य फल ब्रह्म का रूप होने से ब्रह्म होता है। इस प्रकार की भावना से किया हुआ सम्पूर्ण यज्ञ-रूप-कर्म ब्रह्म में समाधि-रूप हो जाता है और इससे ब्रह्म ही प्राप्त होता है।

यज्ञ के समस्त अङ्गों में इस प्रकार की ब्रह्मदृष्टि गीता ने नवम अध्याय में भी दिखलाई है। वहाँ भगवान् कहते हैं: "मैं श्रौत यज्ञ (क्रतु) हूँ, मैं स्मार्त्त यज्ञ (यज्ञ) हूँ, मैं पितरों को अर्पण किया जाने वाला अन्न (स्वधा) हूँ, मैं देवताओं को अर्पण किया जाने वाला अन्न (औषध) हूँ, मैं यज्ञ में बोले जाने वाले मन्त्र हूँ, मैं घृत, अग्नि और हवन-क्रिया हूँ[2]। यह पूर्णज्ञानी की वह दृष्टि है जिसमें वह एकमेवाद्वितीय पुरुष को विश्व के नाना रूपों और क्रियाओं में व्यक्त हुआ देखता है। अतः गीता ने इस दृष्टि को ज्ञानयज्ञ के द्वारा यजन और

---

१. रामानुजाचार्य ने अर्पण का अर्थ किया है जिसके द्वारा हवि अर्पित की जाय वह स्रुवा आदि, कारण वह ब्रह्म का कार्य है (अर्प्यते अनेन इति अर्पणं स्रुवादि, तद् ब्रह्मकार्यत्वात्)। मधुसूदन सरस्वती ने, जिसके द्वारा अर्पण किया जाय वह जुहू और मंत्रादि, जिस देवता के लिए अर्पण किया जाय वह देवता, जिस देश और काल में अर्पण किया जाय वह देश और काल ब्रह्म है, कारण यह सब रज्जु में सर्प के समान ब्रह्म में कल्पित हैं—ऐसा ब्रह्मार्पण का अर्थ किया है।

२. अहं क्रतुरहं यज्ञ स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥९।१६॥

उपासन[1] कहा है। यह यज्ञ की वह सर्वोच्च अवस्था है जिसमें पूर्णज्ञानी मनुष्य किसी भी प्रकार की कामना न रखते हुए लोक-संग्रहार्थ वैदिक यज्ञ करता है। इस स्थिति में काम्य कर्म भी निष्काम भाव से किए जा सकते हैं[2]। जैसे, यदि कोई ब्रह्मज्ञानी मनुष्य लोकहित के लिए किसी उच्च कोटि के वीर या ज्ञानी पुत्र को उत्पन्न करने की आवश्यकता और भगवत्प्रेरणा को अनुभव करे तो वह पुत्रेष्टि यज्ञ कर सकता है। उस समय वह बाह्य रूप में "पुत्रकामोऽहम्, पुत्रेष्टि यज्ञं करिष्ये,' पुत्र की कामना वाला मैं पुत्रेष्टि यज्ञ करूंगा, इस प्रकार का संकल्प पढ़ेगा। परन्तु वह भीतर से यह अनुभव करेगा कि मैं केवल भगवत्प्रेरणा से लोकहित के लिए कर्म में प्रवृत्त हो रहा हूँ। व्यक्तिगत रूप में मुझे लेशमात्र भी पुत्र की कामना नहीं है। इसीप्रकार प्रजापति, इन्द्र आदि देवताओं को आहुति अर्पण करता हुआ वह "इदं प्रजापतये स्वाहा", इदं इन्द्राय स्वाहा" आदि उच्चारण करेगा, किन्तु भीतर से यह अनुभव करता रहेगा कि यह सब देवता एकमेवाद्वितीय परमदेव के रूप हैं और ये आहुतियाँ वस्तुतः उसे ही दीजाती हैं। इसी प्रकार वह स्थूल रूप में स्वयं आहुति डालता हुआ भी ब्रह्म की शक्ति को उसका कर्ता मानेगा और उसके फल का भोक्ता भी उस ब्रह्म को ही मानेगा अपने आपको नहीं। वह यदि कोई फल चाहता है तो वह है उस ब्रह्म के साथ प्रतिक्षण अधिकाधिक बढ़ता हुआ तादात्म्य और उसका अपने भीतर आनन्द। ब्रह्मज्ञानी मनुष्य न केवल वैदिक यज्ञों को अपितु जीवन के

---

१. ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥६।१५॥

२. एवं लोकसंग्रहं चिकीर्षुणाऽपि क्रियमाणं कर्म परमार्थतोऽकर्म ब्रह्मबुद्ध्युपमृदित्वात् (शांकर भाष्य)।

इस प्रकार लोकसंग्रह की इच्छा से करने वाले मनुष्य के द्वारा किया हुआ कर्म भी वास्तव में अकर्म (कर्म बन्धन से रहित) होता है। कारण, ब्रह्म की भावना उसके बन्धनरूप फल को नष्ट कर देती है।

समस्त कर्मों को, यहाँ तक कि खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, फिरना आदि को भी इसी भावना से ब्रह्म-यज्ञ के रूप में करता है, दूसरे शब्दों में, उन्हें उसकी शक्ति के द्वारा होता हुआ देखता है। जो व्यक्ति अभी पूर्णज्ञानी नहीं हुआ है उसे अपने कर्मों में यथाशक्ति ब्रह्म की इस भावना के लाने का अभ्यास करना चाहिए।

परन्तु जो व्यक्ति इस प्रकार की ब्रह्म भावना नहीं ला सकते और जिनमें अभी कामनायें विद्यमा हैं उन्हें गीता ऐसे यज्ञ करने के लिए विवश नहीं करती। वह अधिकारी भेद से प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार दूसरे अनेक प्रकार के यज्ञों के करने का अवसर प्रदान करती है। वे इन्द्रादि देवताओं के निमित्त यज्ञ कर सकते हैं। चाहे निष्काम भाव से करें और चाहे सकाम भाव से, गीता इन्हें भी योगी (कर्मयोगी) ही मानती है। कारण यज्ञ की भावना के बिना स्वयं अपने भोग-विलास के लिए, अपने चतुर्विध अहंकार के वश लौकिक कर्म करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा देवताओं के निमित्त सकाम-भाव से यज्ञ करने वाले श्रेष्ठ ही होते हैं, जिस प्रकार कि कुछ भी भक्ति न करने वालों की अपेक्षा अपने दुःख को दूर करने (आर्त्त) और धन प्राप्त करने की इच्छा से भक्ति करने वाले (अर्थार्थी) मनुष्य श्रेष्ठ (उदार) होते हैं। कारण, जैसाकि पहले कहा का चुका है, सकाम-भाव से देवताओं के निमित्त किए जाने पर भी यज्ञ देवताओं के प्रसाद से अन्तःकरण को [illegible] और निष्कामता उत्पन्न करते हैं।

तीसरा यज्ञ वह हो[illegible]पी अग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ-पुरुष के प्रति किया जाता है [illegible]ादि देवता के निमित्त घृत आदि के द्वारा स्थूल अग्नि में [illegible]पुत्र आदि प्राप्त करने के लिए किया जाता है। यह यज्ञ स्वयं [illegible]र किया जाता है। यह इन्द्र आदि देवताओं को अर्पण न [illegible], परम देव, पुरुषोत्तम को अर्पण किया जाता है जिसे [illegible])। अन्य यज्ञों में घत आदि की

आहुति दी जाती है, यहाँ स्वयं यज्ञ की ही आहुति दी जाती है। दूसरे शब्दों में यहाँ स्वयं यज्ञ-रूप-कर्म को और यज्ञ के फल को अर्पण कर दिया जाता है, अपने समस्त शारीरिक ऐन्द्रियक और मानसिक कर्मों को सीधे उस एकमेवाद्वितीय भगवान् को अर्पण कर दिया जाता है। श्री अरविन्द के शब्दों में इस यज्ञ की व्याख्या इस प्रकार है: "जो ज्ञानी हैं उनके लिए यज्ञ का सीधा-सादा स्वरूप यह है कि जो कुछ भी कर्म किया जाय उसे सीधे स्वयं भगवान् को अर्पण कर दिया जाय, अपने समस्त कर्मों को एकमेवाद्वितीय परम देव, भगवच्चैतन्य में और भगवत्शक्ति में अर्पण कर दिया जाय; यही उनके लिए एकमात्र साधन है, एक-मात्र धर्म है"[1]।

यह यज्ञ और पहले वर्णन किया गया ब्रह्मयज्ञ यद्यपि दोनों पूर्णज्ञानी द्वारा किये जाते हैं और दोनों में सर्वत्र ब्रह्म-दृष्टि समान रहती है, परन्तु फिर भी थोड़ा सा यह भेद किया जा सकता है कि पहले यज्ञ में केवल वैदिक यज्ञों के अंगों और क्रियाओं में ब्रह्म-दृष्टि है और यहाँ जीवन के समस्त व्यापारों में।

चौथा यज्ञ है श्रोत्र आदि इन्द्रियों का संयमरूपी अग्नि में हवन करना। जिस समय मनुष्य की प्रवृत्ति दूषित शब्द (दूसरों की निन्दा, दूषित गायन आदि) सुनने, दूषित रूप देखने आदि की ओर हो तो उन्हें वहाँ से रोकना श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों का संयम है, याज्ञिक भाषा में संयम-रूपी अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन है और उन्हें वहाँ से रोककर उत्तम उत्तम शास्त्रों के श्रवण और श्रेष्ठ महात्माओं के दर्शन में लगाने पर जो शब्द, रूपादि विषय ग्रहण किए जाते हैं वे संयम द्वारा पवित्र हुई इन्द्रिय-रूपी अग्नि में आहुति-रूप हो जाते हैं। यह पाँचवा यज्ञ है।

विषय भोगों की ओर या दुष्कर्मों की ओर जब मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति हो तब उनके दोष दिखलाते हुए उन्हें उन विषयों से हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। मन और इन्द्रियों पर यह संयम विषय-दोष-दृष्टि-रूप ज्ञान के द्वारा

---

१. गीता-प्रबन्ध (१।१२)

अधिकाधिक बढ़ता है, दूसरे शब्दों में संयम-रूपी अग्नि ज्ञान से प्रदीप्त होती है। मन के पूर्णतया संयत हो जाने पर इन्द्रियों और प्राण के जो भी कर्म होते हैं वे संयत ही होते हैं, अतः वे मनः-संयम-रूपी अग्नि में आहुति-रूप होते हैं। यह छठा यज्ञ है।

श्री अरविन्द के शब्दों में इन तीन यज्ञों की व्याख्या इस प्रकार है: "एक संयम इस प्रकार का होता है कि जिसमें ज्ञानेद्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण तो किया जाता है परन्तु इन्द्रियों के व्यापार से मन को विकृत या प्रभावित नहीं होने दिया जाता, उस समय इन्द्रियाँ स्वयं शुद्ध यज्ञाग्नि बन जाती हैं" (शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति)। दूसरा संयम इस प्रकार का होता है कि जिसमें इन्द्रियों को इतना निश्चल कर दिया जाता है कि अन्तरात्मा मन की क्रिया के पर्दे के पीछे से अपने शुद्ध, शान्त और निश्चल रूप में प्रकट हो जाता है" (श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति)। तीसरा संयम इस प्रकार का होता है कि जिसके द्वारा आत्मा का ज्ञान हो जाने पर ज्ञानेन्द्रियों के और प्राण के समस्त कर्म, उस एक शान्त और निश्चल अन्तरात्मा में ग्रहण किये जाते हैं[1]।"

सातवा द्रव्य-यज्ञ होता है। भक्त का अपने इष्ट-देवता की पूजा के रूप में पत्र, पुष्पादि पदार्थ का अर्पण करना अथवा किसी धनी का दीन-दुखियों की सेवा में अथवा धर्म, समाज या राष्ट्र की सेवा में अथवा धर्म, समाज या राष्ट्र सेवा करने वाले श्रेष्ठ महात्माओं की सेवा में धन देना द्रव्य-यज्ञ है। आठवा यज्ञ तपोयज्ञ है। गीता के अनुसार तीन प्रकार के तप होते हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देव द्विज, गुरु और ज्ञानी की पूजा करना, स्नान आदि से पवित्र रहना, सरल व्यवहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, हिंसा न करना शारीरिक तप होता है। दूसरों को कष्ट देने वाले वचनों का प्रयोग न करना, सत्य, प्रिय और हितकारी वचनों को बोलना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन, गायत्री आदि मन्त्रों का जप वाणी का तप कहलाता है। मन को प्रसन्न रखना,

---

१. गीता-प्रबन्ध (१।१२)

कोमल रखना, मौन रहना, संयम रखना, भावों को शुद्ध रखना मानसिक तप होता है। हठयोग, राजयोग आदि का अनुष्ठान नवम योगयज्ञ है । वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय यज्ञ दशम है । न्याय, मीमांसा आदि के साथ उसके अर्थ का चिन्तन करना ज्ञान-यज्ञ कहलाता है । भगवान् ने गीता के अध्ययन को भी ज्ञान-यज्ञ कहा है[1] । सर्वत्र एकमेवाद्वितीय ब्रह्म की दृष्टि रखना भी ज्ञान-यज्ञ कहा गया है (६।२५) । बारहवा प्राणायाम यज्ञ है ।

इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के यज्ञों की व्याख्या करके गीता कहती है कि ये समस्त यज्ञ मनुष्य के मल को दूर करने वाले होते हैं । इन समस्त यज्ञों में स्थूल द्रव्य-यज्ञ (घृतादि के द्वारा यज्ञ अथवा धनादि का दानरूप यज्ञ, की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ (सर्वत्र एकमेवाद्वितीय ब्रह्म की दृष्टि रखना) श्रेष्ठ होता है । इन समस्त यज्ञों का करने वाला विश्व-शक्ति का वह कर्म होता है जिससे विश्व की सृष्टि होती है[2] । दूसरे शब्दों में स्वयं पुरुषोत्तम की शक्ति के द्वारा हमारे सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान होता है और वह शक्ति इन सबको एकमेवा-दितीय पुरुषोत्तम को अर्पण कर देती है । अतः इन सब यज्ञों का लक्ष्य और भोक्ता भी वही पुरुषोत्तम होता हैं (९।१४), इसलिए उसे अधियज्ञ कहा गया है । जिस मनुष्य को यह ज्ञान-दृष्टि प्राप्त होती है वह मुक्त हो जाता है ।

गीता की इस व्याख्या में हम देखते हैं कि यहाँ यज्ञ का स्वरूप मीमांसकों के यज्ञ से बहुत भिन्न और व्यापक हो गया है । यहाँ यज्ञ के देवता, अग्नि, द्रव्य, और प्राप्तव्य लक्ष्य मीमांसकों के देवता आदि से बहुत भिन्न है । यहाँ जिस देवता के निमित्त यज्ञ किया जाता है वह इन्द्रादि की अपेक्षा ब्रह्म, परमदेव पुरुषोत्तम है । जिस अग्नि में आहुति डाली जाती है वह स्थूल अग्नि की अपेक्षा ब्रह्म, इन्द्रिय संयम, मनः संयम, प्राण और अपान हो जाते हैं । जिस

---

१. अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।१८।७०।।

२. विसर्गः कर्मसंज्ञित ।।८।३।।

द्रव्य की आहुति डाली जाती है वह केवल घृत, जौ, चावल ही नहीं हैं अपितु स्वयं ब्रह्म, श्रोत्रादि इन्द्रियां, शब्द रूपादि विषय, इन्द्रिय और प्राण के समस्त कर्म, तप, योग, स्वाध्याय, ज्ञान, प्राण और अपान वायु हैं। इन यज्ञों से जिस फल को प्राप्त करना होता है वह केवल धन, सन्तान आदि नहीं है अपितु स्वयं ब्रह्म, पुरुषोत्तम है। यज्ञ का करने वाला मनुष्य विशेष नहीं है अपितु स्वयं पुरुषोत्तम या उसकी शक्ति है।

यज्ञ की यह व्यापक भावना मूल रूप में यज्ञ शब्द के धात्वर्थ में विद्यमान है। यज्ञ शब्द 'यज्' धातु से बना है जिसका अर्थ है देव पूजा, संगीत-करण और दान। देव पूजा वैदिक मन्त्रों के साथ घृतादि पदार्थ के द्वारा अग्नि में आहुति डालते हुए भी हो सकती है—जैसा कि मीमांसक मानते हैं। यह मन्दिर में देव प्रतिमा को पुष्पादि अर्पण द्वारा भी हो सकती है। अपने समस्त कर्मों को, यहाँ तक कि खाना, पीना, उठना, बैठना, दान, तप आदि को भगवदर्पण भाव से करते हुए एकमेवाद्वितीय परमदेव की भी हो सकती है। अतः गीता में भगवान् कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयंयो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥९।२६॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥१८।४६॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥९।२७॥
शुभाशुभफलैरवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥९।२८॥

"जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल मुझे अर्पण करता है मैं उस संयतात्मा मनुष्य की भक्तिपूर्वक अर्पण की हुई भेंट को ग्रहण करता हूँ। जिस परमात्मा से समस्त भूतों की सृष्टि होती है और जिससे यह सब व्याप्त है उसकी अपने कर्मों के द्वारा पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

अतः अपना समस्त कर्म खाना, हवन, दान, तप मेरे अर्पण करो। इस विधि से कर्म करने से कर्म के बन्धन रूप जो शुभ और अशुभ फल होते हैं उनसे मुक्त हो जाओगे और इस संन्यास-योग के द्वारा मुझे प्राप्त हो जाओगे।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि मीमांसकों के यज्ञ केवल कुछ त्रैवर्णिक कहे जाने वाले हिन्दुओं तक ही सीमित है। परन्तु अपने कर्मों के द्वारा भगवान् की पूजा तो न केवल द्विजेतर हिन्दु अपितु दूसरे धर्मावलम्बी ईसाई, मुसलमान आदि भी कर सकते हैं और इस प्रकार सिद्धि को, परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। अतः गीता की इस उदार और विश्वव्यापी भावना के कारण ही यह विश्व धर्म-ग्रन्थ माना जाता है और समस्त देशों और संप्रदायों के मनुष्य इसके अनुसार अपना जीवन बनाकर लाभ उठा सकते हैं।

यज् धातु का दूसरा अर्थ है संगतिकरण। संगति शब्द का अर्थ है संयोग या मेल। यह मेल या संयोग है जीवात्मा का परमात्मा के साथ। इससे मिलता जुलता दूसरा शब्द उपासना है जिसका अथ है समीप बैठना या भगवान् की अराधना करना। अतः जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिए, उसे प्राप्त करने के लिए जो भी प्रयत्न करे वह यज्ञ होता है। इस दृष्टि से गीता ने तप, योग, स्वाध्याय, प्राणायाम आदि को यज्ञ कहा है। संगतिकरण का जो अर्थ मेल है इसका एक व्यावहारिक रूप भी है। जब कोई मनुष्य दूसरों के साथ सहानुभूति करता है, कष्टों में दूसरों की सहायता और सेवा करता है तो इससे परस्पर में प्रीति और मेल बढ़ता है। अतः ऐसे कर्मों को यज्ञ कहा जाता है।

यज् धातु का तीसरा अर्थ है दान। दान का अर्थ है त्याग। किसी वस्तु का भगवान् को अर्पण करना दान है। भगवदर्पण भाव से किसी दीन, दुःखी, विपद्-ग्रस्त को धन देना, किसी सामाजिक, राष्ट्रीय या धार्मिक कार्य में धन देना, अपने जीवन का दान करना यज्ञ है। त्याग का दूसरा अर्थ है अपनी निम्न प्रकृति की क्रियाओं का, काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, अहंकार, ईर्ष्या, क्रूरता, स्वार्थ-परायणता आदि का परित्याग। अतः गीता ने इन्द्रिय-संयम और मनः-संयम को यज्ञ कहा है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों ने यज्ञ शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि पवित्र करने वाला कर्म यज्ञ है[1]। गीता ने भी यज्ञ को पवित्र करने वाला कहा है[2]। अतः जिन कर्मों से मन और इन्द्रियों की दुष्कर्म और भोग-विलासिता आदि की ओर से प्रवृत्ति कम होती है वे समस्त कर्म यज्ञ होते हैं।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों ने शरीर धारण करने को यज्ञ[3] कहा है। इसमें आयु के पहले चौबीस वर्ष प्रातःकाल का यज्ञ (प्रातः सवन), दूसरे चवालीस वर्ष दोपहर का यज्ञ (माध्यन्दिन सवन) और इसके अनन्तर अडतालीस वर्ष तीसरे पहर का यज्ञ (तृतीत सवन) कहे गये हैं। अपने जीवन में इस प्रकार की भावना करने से ११६ वर्ष की आयु हीती है ऐसा माना गया है[4]। इस शारीरिक यज्ञ में वाणी को होता[5], चक्षु को अध्वर्यु[6] प्राण को उद्‌गाता[7] और मन को ब्रह्मा[8] कहा गया है।

---

१. यन्निदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः। छान्दोग्य ४।१६।१॥

२. यत्रक्षपितकल्मषाः॥ गीता ४।३०॥

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥१५।५॥

३. शरीरं यज्ञः। महनारायणयोपनिषद् ३०।२०।१२

४. छान्दोग्य ३।१६॥

५. होता = ऋग्वेदीय ऋत्विक्। इसका कार्य है यज्ञ के लिए मंत्र बोलना।

६. अध्वर्यु = यजुर्वेदीय ऋत्विक्। यह यज्ञ में मुख्य ऋत्विक् होता है। इसका कार्य है द्रव्य बनाना, आहुति डालना इत्यादि।

७. उद्‌गाता = सामवेदीय ऋत्विक्। इसका कार्य होता हैं सामवेद के मन्त्रों का गान करना।

८. ब्रह्मा = चारों वेदों का ज्ञाता। यह यज्ञ की ससस्त क्रियाओं का निरीक्षण करता है।

वाग्वै यज्ञस्य होता। चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः। प्राणो वै यज्ञस्योद्‌गाता। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा। बृहदारण्यक ३।१।१—६॥

मनुस्मृति ने मीमांसकों के नित्य यज्ञों का सार पांच महायज्ञों में किया है। इनमें वेदादि का अध्ययन ब्रह्मयज्ञ, अग्निहोत्र दैवयज्ञ, माता पिता आदि का श्राद्ध पितृयज्ञ, अतिथि सत्कार नृयज्ञ, काक कृमि आदि को भोजन देना बलिवैश्वदेव यज्ञ कहे गए हैं और इन यज्ञों के करने का अधिकार कुछ भिन्न रूप में शुद्रों को भी दिया गया है[१]। विष्णुपुराण[२] और महाभारत[३] में चारों वर्णों के कर्मों को यज्ञ कहा गया है। दुर्गासप्तशतीने युद्ध को यज्ञ कहा है[४]। महाभारत ने क्षत्रियों के युद्ध को यज्ञ बतलाते हुए कहा है कि युद्ध करते समय जो वीर क्षत्रिय दूसरे क्षत्रिय के शरीर में बाण फेंकता है वह उसके शरीर-रूपी अग्नि में बाण-रूप आहुति डालता है और दूसरा तेजस्वी वीर क्षत्रिय उस बाण को अपने शरीर-रूपी अग्नि में आहुति मानकर हर्ष के साथ सहन करता है।[५]

इसके अतिरिक्त, उपनिषदों में उषा, सूर्योदय, वायु का चलना, ऋतु, दिन रात्रि, मास, सँवत्सर, आदि में यज्ञ की भावना की गई है[६]। कहीं कहीं द्यु लोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष, स्त्री आदि को यज्ञाग्नि कहा गया है। वहाँ पृथ्वी पर होने वाली वृष्टि को देवताओं के द्वारा आहुति कहा गया है। इस प्रकार व्यापक दृष्टि से देखने पर सूर्य का प्रकाश और उष्णता देना, पानी की भाप बनना, वृष्टि का होना, पृथ्वी का अन्न उत्पन्न करना, जीवों का उन्हे खाकर जीवन

---

१. पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ।। याज्ञवल्क्य १।१२१।।

२. यज्ञनिष्पत्तये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकार ह ।
चातुर्वर्ण्यं महाभाग यज्ञसाधनमुत्तमम् ।।१।६।७।।

३. आरम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विश स्मृताः ।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः ।। महा० शांति २३७।१२।।

४. युद्धयज्ञे स्वयं शंभुं निशंभुं च हनिष्यति ।।

५. शरीराग्निषु शूराणां जुहुवुस्ते शराहुतिः ।
हूयमानान् शरांश्चान्ये सेहुस्तेजस्विनो मिथः ।।

महा० स्त्री० २।८७।।

६. बृहदारण्यक १।१।।

धारण करना और सन्तान उत्पन्न करना आदि समस्त प्राकृतिक कर्म यज्ञ हो जाते हैं। इस यज्ञ को प्रकृतिरूपी परमात्मा की शक्ति करती है और समस्त यज्ञों के एकमात्र भोक्ता, अधियज्ञ, परमात्मा, पुरूषोत्तम को अर्पण कर देती है। यह विश्व-यज्ञ है।

व्यावहारिक जीवन में यज्ञ

यज्ञों का पूर्वोक्त भेद मनुष्यों की प्रकृति की भिन्नता और आवश्यकता को दृष्टि में रखकर किया गया है। अतः इनमें एक क्रम होता है। जैसे जैसे मनुष्य की कामना और अहंकार कम होते जाते हैं वैसे वैसे उसके यज्ञ भी श्रेष्ठ और उच्चकोटि के होते जाते हैं। अतः गीता ने द्रव्य-यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ को श्रेष्ठ माना है। जैसाकि गत प्रकरण में कहा गया है गीता में कर्मों के तीन विभाग हैं—प्रथम केवल इन्द्रिय सुख भोग के लिए किये जाने वाले आहंकारिक कर्म, दूसरे वैदिक सकाम यज्ञ और तीसरे पूर्णतया निष्काम यज्ञ। यज्ञ के विकास-क्रम की एक और दिशा भी है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मनुष्य अपने जीवन की प्रारम्भिक भूमिका में चतुर्विध अहंकार का दास होता है। वह अपनी व्यक्तिगत कामना से कर्म में प्रवृत्त होता है (अमुक कामोऽहम) कर्म करने पर अपने आपको उसका कर्त्ता मानता है (अहं कर्त्ता), फल मिलने पर अपने परिश्रम से उसे प्राप्त हुआ मानता है और उसपर अपना अधिकार समझता है (ममेदं फलम्) और फिर वह स्वयं उसका भोग करना चाहता हैं (अहंभोक्ता)। यहाँ मनुष्य की दृष्टि केवल अपने व्यक्तिगत सुख-भोग पर केन्द्रित रहती है। वह भीतर से कुछ ऐसा समझता है कि मानो संपूर्ण विश्व उसकी कामनाओं की पूर्ति के लिए है। यहाँ उसे अपनी स्त्री और बच्चों के सुख दुःख की भी परवाह नहीं होती। अनेक मनुष्य ऐसे देखे गए हैं कि जो मदिरा पीने या सिनेमा आदि देखने के दुर्व्यसनों में फंसे रहते हैं और घर पर स्त्री और बच्चों को भोजन और वस्त्र के लाले पड़े रहते हैं। महीने के अन्त में जब वेतनमिलता है तो घर पर

आने से पहले ही ऋण देने वालों का भुगतान कर देना पड़ता है। ऐसे ही जीवन वाले व्यक्तियों को लक्ष्य में रखकर गीता ने कहा है कि वह इन्द्रियों के विषयों में रमण करता है (इन्द्रियारामः), वह चोरी से भोग करता है (स्तेन एव स भुंक्ते), उसका जीवन व्यर्थ है (मोघ स जीवति), उसके लिये न यह लोक है न परलोक।

(क) परिवारिक यज्ञ

इस प्रकार का व्यक्तिगत अहंकारमय जीवन व्यतीत करते करते कुछ समय के अनन्तर उसे यह अनुभव होने लगता है कि जिस सुख को वह चाहता है वह उसे तभी मिल सकता है जबकि वह अपने स्त्री और संतान को भी सुख देने का प्रयत्न करे। यदि वह यह चाहता है जिस समय वह बाहर से थककर घर पर जाय उस समय उसे ठीक प्रकार भोजन मिल जाय तो यह तभी सम्भव है जबकि वह अपने दुर्व्यसनों को कम करे और ठीक समय पर अन्न घर पर पहुँचा दे। यदि वह चाहता है कि घर पर स्त्री और बच्चे उसके साथ मधुर वार्त्तालाप करें जिससे उसे शान्ति मिले, तो यह तभी सम्भव है जबकि वह उनके लिए आवश्यक वस्त्रादि की व्यवस्था करे, बच्चों के लिए उत्तम शिक्षा की व्यवस्था करे जिससे उनका स्वभाव मधुर हो जाय, स्वयं अपने दुर्व्यसनों को छोड़ दे और अपने परिवार वालों से भी छुड़ाने का प्रयत्न करे। यदि वह यह चाहता है कि बीमार पड़ने पर उसके परिवार वाले उसकी सेवा-सुश्रूषा करें तो उसे भी उनकी बीमारी में समान रूप में सेवा करनी चाहिए। ऐसा अनुभव होने पर मनुष्य अपनी राजसिक और तामसिक प्रकृति को संयत करने लगता है और अपने परिवार वालों के साथ सहानुभूति करने लगता है। वह उनके सुख में अपने को सुखी और दुःख में दुःखी अनुभव करने लगता है। वह उनसे प्रेम करने लगता है और जितना भी उससे बन पड़ता है उन्हें सुखी करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं चाहे भूखा रह जाय, परन्तु अपने स्त्री और बच्चों को अवश्य भरपेट भोजन देने का प्रयत्न करता है। जो भी उसे अच्छी वस्तु प्राप्त होती है वह अपने स्त्री और बच्चों को देता है और उनके सुख में अपने

आपको सुखी मानता है। घर में स्त्री सोचती है कि चाहे उसे स्वयं भरपेट भोजन न मिले किन्तु पति को और बच्चों को अवश्य मिल जाय। माता-पिता अनेक बार आधा पेट भोजन करके अपने नन्हे नन्हे बालकों को दूध मिठाई देने में सुख का अनुभव करते हैं। यहाँ मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन का अतिक्रमण करके पारिवारिक जीवन में आ जाता है। वह अपने स्थूल व्यक्तिगत स्वार्थों को त्यागकर परिवार के सुख से तादात्म्य करता है। वह अपने व्यक्तिगत अहं को परिवार के अहं के साथ मिला देता है। यह उसके यज्ञ की पहली भूमिका है। यह है पारिवारिक यज्ञ की भूमिका।

(ख) सामाजिक और राष्ट्रीय यज्ञ

परन्तु इस जीवन में मनुष्य अपने पारिवारिक सुख-भोग में इतना मतवाला हो सकता है कि वह अपने समाज या राष्ट्र के सुख-दुःख की लेशमात्र भी परवाह नहीं करता। वह अपने-आपको धनी और सुखी बनाने के लिए अपने समाज और राष्ट्र के हितों की ओर से आँखें मीच लेता है। यदि उसके ग्राम में कहीं प्लेग या हैजा होता है तो वह दूसरों की सहायता नहीं करता।

स्वार्थपरायणता से ईर्ष्या, द्वेष और कलह बढ़ते हैं और स्वार्थ-त्याग से प्रेम, मित्रता और संगठन। विश्व के अनेक देश और जातियों के इतिहासों को देखने से पता चलता है कि जिस देश या जाति के मनुष्य अपने अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक सुखभोग में लिप्त रहते हैं (इन्द्रियारामो) और अपने देश या जाति के लिए त्याग या बलिदान नहीं करते उनमें परस्पर में ईर्ष्या, द्वेष, कलह और संग्राम होते हैं जिससे उनकी संगठन शक्ति, एक साथ मिलकर कार्य करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप वे अपने से अधिक स्वार्थत्यागी और संगठित देश एवं जाति वालों से पद-दलित होकर उनके दास हो जाते हैं। तब विदेशी शासक उनमें और भी अधिक स्वार्थ-परायणता को उत्तेजित करते हैं। वे उनमें से कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों को चुनकर उन्हें कुछ विशेष सुविधायें देने का प्रलोभन देते हैं और उन्हें देश को पूरी तरह लूटने और सदा के लिए दासता की बेड़ी में जकड़े रखने का उपकरण

बनाते हैं। इस प्रकार वे पराधीन देश और जाति विदेशी शासन से पददलित होते होते नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः गीता ने कहा है :

"नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम" ॥४।३१॥

यज्ञ करने वाले लोगों के लिए न यह लोक है न परलोक।

इस प्रकार का कष्टमय जीवन व्यतीत करने पर मनुष्य को यह अनुभव होने लगता है कि उसका व्यक्तिगत और पारिवारिक सुख समाज और राष्ट्र के सुख पर निर्भर करता है। वह अनुभव करता है कि यदि वह पड़ोसी के घर में लगी आग को बुझाने में सहायता नहीं करेगा तो वह अग्नि बढ़कर उसके भी घर को जला सकती है, अथवा कभी उसके घर में लग जाने पर दूसरे भी उसकी आग को बुझाने में सहायता नहीं करेंगे। उसके ग्राम में प्लेग या हैजा होने पर यदि वह स्वयं दूसरों की सहायता नहीं करेगा तो एक दिन वह रोग स्वयं उसके परिवार पर भी आक्रमण कर सकता है। यदि अपने पड़ोसी के घर में चोरी या लूट होते समय वह उनकी सहायता नहीं करेगा तो दूसरे दिन चोर उसके माल को भी उठाकर ले जा सकते हैं। यदि किसी विदेशी राजा का आक्रमण होने पर वह अपने देश की सहायता नहीं करता या विदेशी शासन होने पर अपने देश को बन्धन-मुक्त करने में अपने स्वार्थ का त्याग नहीं करता तो वे विदेशी मनुष्य एक दिन उसके भी धन और मान को अपहरण कर सकते हैं। अतः ऐसा अनुभव होने पर मनुष्य में समाज और राष्ट्र की सेवा करने की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह इनकी सेवा में अपने धन और शक्ति का त्याग करने लगता है। यहाँ मनुष्य पारिवारिक यज्ञ की सीमा का अतिक्रमण करके सामाजिक और राष्ट्रीययज्ञ के क्षेत्र में प्रवेश करता है। यदि कोई देश पराधीन है तो उसके पढ़े-लिखे विचारशील मनुष्य अपनी विद्या और बुद्धि का उपयोग विदेशी शासन का अंग बनकर उसे बलवान् बनाने और स्वयं सुख-सम्पन्न बनने की अपेक्षा उसके विनाश के उपायों की खोज में करते हैं चाहे इनमें इन्हें कितना भी कष्ट क्यों न भुगतना पड़े। उसके धनवान् मनुष्य अपने धन का उपयोग विदेशी शिल्प और व्यापार का अभिकर्त्ता (एजेण्ट) बनने की अपेक्षा इनका बहिष्कार करने और अपनी देशी वस्तुओं के उत्पादन और

व्यवहार में करते हैं, चाहे इसमें कम ही लाभ क्यों न हो। वे देश की सेवा में बलिदान करने वाले दूसरे देश-भक्तों की सहायता में धन का दान करते हैं। शारीरिक बल रखने वाले मनुष्य विदेशी सेना में नौकरी करके स्वयं सुखी बनने के बजाय अपने देश के स्वातंत्र्य-संग्राम के सैनिक बनते हैं चाहे उसमें जेल और मृत्यु का कष्ट ही क्यों न उठाना पड़े। यदि उस देश के कुछ थोड़े मनुष्य ही प्रारम्भ में इस प्रकार राष्ट्र के लिए स्वार्थ-त्याग करने लगें तो उनके उदाहरण और प्रभाव से हजारों लाखों मनुष्य प्रेरणा प्राप्त करके उनके पथ का अनुसरण करते हुए देश के लिए त्याग और बलिदान करने लगते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण देश प्रेम-सूत्र में संगठित होकर बलवान् हो जाता है और विदेशी शासन के बन्धन को तोड़कर स्वतन्त्रता को प्राप्त करता है तथा कृषि, उद्योग, व्यापार आदि प्रत्येक विषय में उन्नति करता है। यह राष्ट्रीय यज्ञ की भूमिका है। अतः गीता ने कहा है :

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥३।१०॥

(ग) मानव यज्ञ

परन्तु यह राष्ट्रीय यज्ञ भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। यहाँ यद्यपि मनुष्य अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक अहङ्कार से अतीत हो जाता है, किन्तु राष्ट्रीय अहङ्कार बना रहता है। इस अहङ्कार के वशीभूत होने पर मनुष्य कभी कभी असुर कोटि में पहुँच जाता है। जो मनुष्य अपने देश को बन्धन-मुक्त करने में अपने सर्वस्व का बलिदान कर देते हैं वही अपने देश के स्वतंत्र और बलवान् हो जाने पर दूसरे देशों को दासता के बन्धन में जकड़ने लगते हैं। अपने देश के स्वार्थ में अन्धे होकर दूसरे देशों के शिल्प और व्यापार को नष्ट करने लगते हैं, उनके धन और सम्पत्ति को लूटने लगते हैं, राक्षसों के समान होकर उनकी हत्या करने लगते हैं, यहाँ राष्ट्रीय अहंकार का बन्धन है। अतः यह सच्चा यज्ञ नहीं है।

इस राष्ट्रीय अहंकार के दोषों का अनुभव होने पर मनुष्य मानव जाति के

हित का विचार करने लगता है। वह संकीर्ण राष्ट्रीयता का परित्याग करके अपने समस्त कर्म मानव जाति की, मनुष्यमात्र की सेवा में अर्पण करने लगता है। सच्चे मानव हित का राष्ट्रीय हित से विरोध नहीं है और न सच्चे राष्ट्रीय हित का मानव हित से विरोध है। मानव हित करने वाला व्यक्ति अपने राष्ट्र का भी हित कर सकता है और मानव जाति का भी। और इसी प्रकार राष्ट्रीय हित करने वाला अपने राष्ट्र का भी हित कर सकता है और मानव जाति का भी। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने राष्ट्र की सेवा के लिए अपने व्यक्तिगत शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाता है, अधिकाधिक विद्या प्राप्त करता है, इसी प्रकार मानव-जाति का हित करने की इच्छा रखने वाला मनुष्य भी अपने देश को समृद्ध और उन्नत करने के लिए प्रयास कर सकता है। परन्तु वह ऐसा इसलिए नहीं करता कि जिससे वह देश समृद्ध और बलवान् होकर दूसरे देशों को पराधीन बनाए और उनका शोषण करे, अपितु इसलिए कि वह दूसरे देशों को समृद्ध और उन्नत होने में सहायता दे सके। यहाँ मनुष्य संकीर्ण राष्ट्रीयता के अहंकार से अतीत होकर मानवीय यज्ञ की भूमिका में आ जाता है।

परन्तु यह मानवीय यज्ञ भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। कारण, यहाँ मनुष्य रजोगुण या सत्वगुण के आधीन होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। वह अपनी मानव आहंकारिक बुद्धि से जिन कार्यों को मानव जाति के लिए हितकारी समझता है उन्हें ही करना चाहता है। वह इससे ऊपर उच्चतट हितों की खोज नहीं करता। अतः वह जिन कर्मों को करता है उससे मानव जाति का सच्चा हित हो यह आवश्यक नहीं है। उसमें अपने-आपको कर्त्ता मानने का अहंकार विद्यमान रहता है, अतः यदि उसे अपने कर्म के परिणाम-स्वरूप अभीष्ट सफलता नहीं मिलती तो उसे दुःख होता है। वह अभी त्रिगुणमयी प्रकृति के बंधन में और द्वन्द्वों के बंधन में है। वह त्रिगुणातीत और द्वन्द्वातीत नहीं है।

(घ) सर्वोच्च यज्ञः समस्त जीवन यज्ञमय

गीता की दृष्टि में सर्वोच्च यज्ञ वह है जबकि मनुष्य अपने जीवन के समस्त

कर्मों को एकमेवाद्वितीय पुरुषोत्तम, परम देव की सेवा के रूप में करता है। उसके कर्म स्थूल रूप में चाहे व्यक्तिगत हित के लिए हों अथवा चाहे परिवार, समाज, राष्ट्र या मानव जाति के लिए, किन्तु वह इन सबको भीतर से उस परमदेव की ही पूजा के रूप में करता है (मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य)। 'क्या उसका कर्त्तव्य है' यह वह अपनी व्यक्तिगत आहंकारिक बुद्धि से निर्णय नहीं करता अपितु स्वयं उन परमदेव से ही इसके लिए आदेश प्रकाश प्राप्त करने का प्रयास करता है[1]। वह कर्म करके अपने-आपको उसका कर्त्ता नहीं मानता अपितु भगवान् और उसकी शक्ति के द्वारा कर्म का अनुष्ठान होता हुआ[2] देखता है। अतः यहाँ उसका कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता। उसके कर्मों का जो फल होता है उसे भी भगवान् की ओर से आया हुआ मानता है। अतः उसकी इसमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं होती। अतः सर्वत्र उसकी ब्रह्म दृष्टि हो जाती है। वह सब कुछ करता हुआ भगवान् में निवास करता है (सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते)। इस समय उसके समस्त कर्म उसपर किसी प्रकार का भी चिन्ह छोड़े बिना इस प्रकार विलीन हो जाते हैं जिस प्रकार कमल के पत्र से जल गिर जाता है। अतः गीता ने कहा है :

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।४।२३।।
लिप्यते न स पापेन पद्म पत्रमिवाम्भसा ।।५।१०।।

यही गीता के यज्ञ की सर्वोच्च अवस्था है जिसमें उसका समस्त जीवन-व्यवहार यज्ञमय हो जाता है।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता ने जो यज्ञ का स्वरूप वर्णन किया है उसमें एक ओर मीमांसा के वैदिक यज्ञ के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया

---

१. यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।।२।७।।

२. मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।।९।१०।।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।१८।६१।।
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।।१३।२९।।

गया है, किन्तु उसे केवल स्थूल अग्नि में आहुति डालना-रूप यज्ञ में सीमित न करके व्यापक रूप दे दिया है। यहाँ यज्ञ का अर्थ है इन्द्रिय और मन पर संमय करना, देश और समाज के हित के लिए अपने धन आदि का त्याग करना, उत्तम उत्तम शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन करना, अपने कर्मों को देवपूजा, भगवत्पूजा के रूप में करना, भगवान् को प्राप्त करने के लिए आसन प्राणायम आदि यौगिक क्रियाओं का अनुष्ठान करना, सर्वत्र एकमेवाद्वितीय ब्रह्म की दृष्टि रखना इत्यादि। दूसरी ओर गीता ने ज्ञानमार्ग के सर्व-कर्म-संन्यास के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी उसकी संकीर्णता को दूर कर दिया है। यहाँ संन्यास का अर्थ है कामना, क्रोध, द्वेष, द्वन्द्व, अहंकार आदि का संन्यास, भगवान् को अपने कर्मों का अर्पण और इस यज्ञ में चूंकि अपने कर्म भगवान्, की पूजा के रूप में किये जाते हैं, अतः इसमें भक्ति का भी समावेश है। अतः गीता के इस सिद्धान्त में ज्ञान, कर्म और भक्ति का सुन्दर समन्वय विद्यमान है।

———

ग्यारहवा परिच्छेद

अहंकार का त्याग

कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए गीता ने पहली भूमिका पर कर्म-फल में आसक्ति का परित्याग करने, सिद्धि असिद्धि में सम होने और मन एवं इन्द्रियों पर संयम करने का आदेश दिया है। इसके अनन्तर दूसरी भूमिका पर उसने समस्त कर्मों को यज्ञरूप में एकमेवाद्वितीय पुरुषोत्तम, परमात्मा, ईश्व को अर्पण करने का आदेश दिया है। इस प्रकार यज्ञ-रूप में कर्म करते रहने पर कामना और अहंकार का बन्धन कुछ ढीला हो जाता है। मुझे अमुक फल चाहिए (अमुक कामोऽहम्), मैंने फल प्राप्त करने के लिए कर्म किया (अहं कर्ता), मेरे परिश्रम से फल उत्पन्न हुआ अतः यह मेरा है (ममेदं फलं), मैं इसका भोग करूंगा (अहं भोक्ता) इन चार रूपों में विद्यमान जो अहंकार है वह कुछ हलका हो जाता है। परन्तु अपने समस्त कर्मों को यज्ञ-रूप में भगवान् के अर्पण करते हुए भी, अभी तक यह भाव विद्यमान रहता है कि मैंने कर्म किया और मैंने भगवान् को अर्पण किया। अतः अभी तक अपने आपको कर्ता मानने का अहंकार (कर्तृत्वाभिमान) विद्यमान है। और जब तक मनुष्य में अपने आपको कर्ता मानने की भावना विद्यमान है तब तक उसका फल प्राप्त करने और उस फल का भोग करने की कामना सर्वथा निर्मूल नहीं हो सकती। अतः कर्म का बन्धन कुछ हलका होने पर भी विद्यमान अभी तक है ही। अभी तक सच्ची मुक्ति प्राप्त नहीं हुई हैं।

इस बन्धन से मुक्ति के साधन रूप में तीसरी भूमिका का प्रतिपादन करते हुए गीता कहती है :

समस्त कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किए जाते हैं। अहंकार से मूढ हो गया है आत्मा (अन्तःकरण) जिसका ऐसा मनुष्य अपने-आपको कर्ता मानता है

(३।२७)। गुणों के विभाग और कर्मों के विभाग के रहस्य को जानने वाला मनुष्य यह अनुभव करता है कि वे प्रकृति के गुण हैं जोकि एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहे हैं। ऐसा जानकर वह इनमें आसक्ति नहीं करता और इसलिए इनमें नहीं फंसता (३.२८,२९)। समस्त भूत (प्राणी) अपनी प्रकृति का अनुसरण किया करते हैं। ज्ञानी मनुष्य भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कर्म किया करता है, निग्रह (बल प्रयोग या हठ) करने से क्या होगा ? प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष घात लगाये बैठे हैं। उनके वश में न आना, कारण वे आत्मा के (अध्यात्म) पथ में उसके शत्रु हैं। अपना धर्म सदोष होते हुए भी परकीय (विजातीय या दूसरे के) धर्म से, चाहे उसका भली प्रकार अनुष्ठान क्यों न किया जाय, श्रेष्ठ होता है; अपने धर्म में मृत्यु भी श्रेयस्कर है, परकीय धर्म का पालन करना विनाशकारी है (३।३३,१४,३५)।

गीता के इन वचनों में तीन भाव दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम, प्रकृति का आत्मा पर बन्धन इतना दृढ़ है कि उसे लेशमात्र भी स्वतन्त्रता नहीं है। यहाँ तक कि ज्ञानी मनुष्य को भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कर्म करना पड़ता है। अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म (स्वधर्म) यदि सदोष हो तब भी उसे ही करते रहना चाहिए। दूसरे, आत्मा को कुछ न कुछ स्वतन्त्रता भी है ही, अतः गीता ने राग द्वेष रूपी शत्रुओं के वश में न आने का आदेश दिया है। यदि कुछ भी स्वतन्त्रता न होती तो इस प्रकार के आदेशों का कुछ भी अवकाश न होता। तीसरे, सांख्य और वेदान्त आत्मा को शुद्ध, पाप और पुण्य के बन्धन से रहित (शुद्धमपापविद्धम्), प्रकृति के बन्धन से सदा मुक्त मानते हैं। गीता के दृष्टिकोण से इन भावों का निर्णय करने के लिए गुणों के स्वरूप, उनके कार्य और उनके आत्मा के साथ सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

सांख्य शास्त्र के अनुसार प्रकृति के तीन गुण होते हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्व संतुलन शक्ति है। इसका कार्य हैं प्रकाश, ज्ञान, सुख, सामञ्जस्य और शुभ। रज कर्म-शक्ति हैं। इसका कार्य है कर्म में प्रवृत्ति, काम, लोभ, राग, क्रोध, द्वेष, प्रयास संघर्ष इत्यादि। तम अकर्मण्यता और अचेतना की शक्ति हैं। इसका कार्य है अज्ञान, ज्ञान का आवरण, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, कर्म में अप्रवृति-

अशक्ति[1] इत्यादि। आत्मा के अतिरिक्त विश्व के समस्त पदार्थ इन तीनों गुणों के ही परिणाम हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदी, लोहा, सोना आदि जड़ कहे जाने वाले पदार्थ और वृक्ष तथा पशु पक्षी मनुष्य आदि प्राणियों के शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और इनकी सम्पूर्ण क्रियाएं इन तीन गुणों के ही कार्य हैं। पशु और मनुष्यों में जो कर्म करते समय 'अहं भाव' रहता है वह भी इन गुणों का ही कार्य है।

विश्व में हमें चार प्रकार की सत्तायें दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम पृथ्वी, जल, अग्नि, पत्थर, लोहा, सोना आदि जड कहे जाने वाले पदार्थ। दूसरे वनस्पति, तीसरे पशु और चौथे मनुष्य। यह स्पष्ट है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, पत्थर, लोहा आदि की क्रियायें जड़ प्रकृति की क्रियाएं हैं। यदि इनके परमाणुओं में इच्छा है तो उसे सचेतन स्वतन्त्र इच्छा नहीं कहा जा सकता। कारण, परमाणु में ऐसी सचेतन बुद्धि नहीं है कि जो गति करते समय वह यह सोच सके कि मैं वैसा कर रहा हूँ। उसकी क्रिया प्रकृति की विश्वव्यापी क्रिया का अङ्ग है। किसी यन्त्र के गति करने पर जैसे उसके अङ्गभूत छोटे छोटे पुर्जे गति करने लगते हैं इसी प्रकार वैश्व प्रकृति के क्रिया करने पर उसके अङ्गभूत परमाणु भी क्रिया करते रहते हैं (यन्त्रारूढ़ानि मायया)। यह तामसी सृष्टि है। यहाँ तम प्रधान है और उसने रज और सत्त्व को पूरी तरह अभिभूत किया हुआ है।

इससे ऊपर की श्रेणी में वनस्पति है। यहाँ रजोगुण ने ऊपरी तल पर आने की चेष्टा की हैं। इस रजोगुण के साथ प्राण-शक्ति और स्नायविक प्रतिक्रियाओं की सामर्थ्य जो हममें सुख और दुख के रूप में अनुभूत होती हैं, वहाँ आगई है। परन्तु सत्त्व अभीतक अभिभूत है। वह अभी तक ऊपर उठकर सचेतन बुद्धि के प्रकाश का रूप धारण नहीं कर सका है। अभीतक सब कुछ जड़, अवचेतन या अर्धचेतन है। रज की अपेक्षा तम प्रबल हैं। दोनों ने सत्त्व को अभिभूत किया हुआ है।

---

१. योग समन्वय अध्याय १०।

इससे ऊपर की श्रेणी में पशु-सृष्टि है। यहाँ यद्यपि तम की प्रधानता है और यद्यपि हम इसे तामस सर्ग कह सकते हैं, तथापि रजोगुण पहले से बहुत अधिक बढ़ गया है। अतः यहाँ रजोगुण के साथ साथ उसकी उन्नत प्रकार की प्राण-शक्ति, कामना,भावावेग, रागावेश, सुख, दुख, मोह की सामर्थ्य आ गये हैं। सत्त्व यद्यपि यहाँ आविर्भूत हुआ है परन्तु उसका कार्य निम्न-कोटि का है। वह यहाँ सचेतन मन का प्राथमिक प्रकाश, यांत्रिक अहंभाव, सचेतन स्मृति, एक विशेष प्रकार की विचार शक्ति, विशेष प्रकार की पशु सुलभ सहज-बुद्धि और अन्तर्भास प्रदान करता है। परन्तु अभी तक बुद्धि में चेतना का पूर्ण प्रकाश नहीं आया है। पशु में ऐसी बुद्धि नहीं है कि जो कर्म करते समय यह विचार कर सके कि वह अच्छा है या बुरा, करना चाहिए या नहीं। उसके भीतर से एक वेग उत्पन्न होता है जो यन्त्र के समान उससे कर्म करा देता है। इस वेग को उत्पन्न करने वाली उसकी प्रकृति है, उसकी प्रकृतिजात सहजबुद्धि या अन्ध-अन्तर्भास है। अतः पशु पर उसके कर्मों का कोई उत्तरदायित्व नहीं लगाया जा सकता। परमाणु को उसकी अन्ध गति में, अग्नि को किसी प्राणी के जलाने में, आंधी, वर्षा या बाढ़ को किसी मकान के गिराने या किसी प्राणी को मार देने पर जैसे अपराधी नहीं ठहराया जा सकता, इसी प्रकार शेर को भी किसी प्राणी की हिंसा कर देने पर अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। कारण, यहाँ यह स्पष्ट दिखलाई देता है कि यह उस की प्रकृति है जो उसे प्राणी की हिंसा करने के लिए विवश करती है। गाय, हिरण आदि पशुओं की प्रकृति इस प्रकार की बनी है कि वे घास, अन्न, फल आदि खाते हैं, मांस नहीं खाते और इस कारण उन्हें किसी प्रकार की हिंसा नहीं करनी होती। इसके विपरीत शेर, भेड़िये जैसे जीवों की प्रकृति इस प्रकार की बनी है कि यदि उन्हें मांस न मिले तो वे मर जायं। अतः प्रकृति ने उन्हें ऐसा बनाया है कि केवल जीवन धारण करने के लिए उन्हें प्राणियों की हिंसा करनी पड़ती है। अतः शेर आदि हिंसक जीवों में यह उनकी प्रकृति है जो हिंसा करती है और यदि वे किसी समय हिंसा नहीं करते तो इसका कारण यह हो सकता है कि उन्होंने बहुत अधिक खाया हुआ है या उन्हें आलस्य है या कोई रोग है

जिससे उन्हें भूख नहीं है या ऐसी दुर्बलता है जिससे अपने भक्ष्य पर आक्रमण नहीं कर सकते। यह तमोगुण का कार्य है। हिंसा से रुकने का कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वे हिंसा को पाप या दुष्कर्म समझते हैं। अतः यहाँ हिंसा करने वाली भी प्रकृति है और हिंसा से रोकने वाली भी प्रकृति ही। परमाणु के समान पशु भी प्रकृति के ही द्वारा परिचालित होता है (यन्त्रारूढ़ानि मायया)।

पशु से ऊपर की श्रेणी में मनुष्य है। यहाँ सत्त्वगुण की प्रधानता है। यहाँ बुद्धि आत्मा के सचेतन प्रकाश से पूर्ण है। यह प्रकाश इस प्रकार का है कि जिससे मनुष्य की बुद्धि कर्म करने से पहले उसके विषय में यह सोच सकती है कि वह अच्छा है या बुरा, कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य। इसके अतिरिक्त यह सत्त्वगुण और यह प्रकाश इस प्रकार का है कि जो मानव बुद्धि को अपने और दूसरों के अधिकारों को समझने, दूसरों के साथ सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करने, उच्चतर प्रकाश के अनुसन्धान के द्वारा अपने और दूसरों के जीवनों को सुखी और उन्नत बनाने की प्रेरणा देता है। इस सत्त्वगुण के कारण मानव बुद्धि में स्वल्प या अधिक यह भाव भी रहता ही है कि उसे अपनी सात्त्विक प्रकृति के द्वारा राजसिक और तामसिक प्रकृति को संयत करना है। यह सब सामान्यतया मनुष्य का मनुष्यत्व, स्वधर्म कहा जा सकता है। यदि कोई मनुष्य ऐसा नहीं करता तो समझना चाहिये कि वह अपने स्वधर्म का अनुष्ठान नहीं करता। मनुष्य किसी की हिंसा करके या किसी के घर में आग लगाकर शेर या अग्नि के समान यह कहने का अधिकारी नहीं है कि यह मेरी प्रकृति ने किया है और मुझपर इसका उत्तरदायित्व नहीं है। मनुष्य को कर्म करते समय स्वतन्त्रता का भान होता है और वह अपने कर्म का अपने-आपको उत्तरदायी समझता है और एक दृष्टि से यह ठीक भी है।

परन्तु यदि कुछ अधिक गहराई में दृष्टिपात करके देखा जाय तो पता चलता है कि सत्त्व गुण की प्रधानता होना और कर्म करते समय स्वतन्त्रता का भान होना सच्ची स्वतन्त्रता का द्योतक नहीं है। मनुष्य जो किसी कर्म के करते

समय यह सोचता है कि मैं उसके करने या न करने में स्वतन्त्र हूँ और कर्म करने पर अपने-आपको स्वतन्त्र कर्ता मानता है यह आंशिक रूप में ही सत्य है (अकृत्स्नविद्), पूर्ण सत्य (कृत्स्नविद्) नहीं है। वास्तव में यदि देखा जाय तो यहाँ पर भी वह त्रिगुणमयी प्रकृति ही है जो उसके द्वारा कर्म करती है। उदाहरण-स्वरूप—एक मनुष्य को बाल्यकाल से जैन या वैष्णव माता-पिता के साथ रहना होता है जहाँ उसे मांस भक्षण और हिंसा से घृणा की शिक्षा मिलती है। दूसरे मनुष्य को मांसभोजी मुसलमान या ईसाई माता पिता के साथ रहना होता है, जहाँ उसे मांसभक्षण और हिंसा की शिक्षा मिलती है। कुछ समय में ये कर्म उनकी प्रकृति के अंगभूत, उनके स्वभावगत हो जाते हैं। पहले मनुष्य के सामने जब कभी मांसभक्षण और हिंसा का अवसर आता है तो वह घृणा के साथ इनका परित्याग कर देता है। दूसरे मनुष्य को निरामिष भोजन अच्छा ही नहीं लगता और वह हिंसा से संकोच नहीं करता। यद्यपि ये दोनों मनुष्य वैसा कर्म करते हुए अपने-आपको स्वतन्त्र समझते हैं, परन्तु इनके अतीत जीवन पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पहले मनुष्य का मांसभक्षण और हिंसा से घृणा करना और दूसरे का इनसे प्रेम करना उनकी प्रकृति पर होने वाले माता-पिता के प्रभाव के कारण है, उनकी प्रकृति में सत्त्वगुण और रजोगुण की वृद्धि के कारण है। उनकी रुचि और इच्छायें भी प्रकृति की क्रिया का अङ्गभूत हैं, अतः प्रकृति के आधीन हैं। अतः इन कर्मों को तुरन्त होने वाली उनकी स्वतन्त्र इच्छा का कार्य नहीं कहा जा सकता।

माता-पिता के अतिरिक्त मनुष्य पर उसके समाज और देश काल की परिस्थितयों का भी प्रभाव पड़ा करता है। जिन मनुष्यों को गत राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने और जेल में रहने का अवसर मिला है उनके भीतर से छूतछात की भावना बहुत दूर हो गई है। नोआखाली और पाकिस्तान में हिन्दुओं पर हुए अत्याचारों के प्रभाव से बहुत अधिक संख्या में सवर्ण हिन्दू विधर्मियों को शुद्ध करके हिन्दू धर्म में दीक्षित करने और उनके साथ भोजन और विवाह का सम्बन्ध करने के लिए तैयार हो गये हैं। अतः उनका यह कार्य समाज और देशकाल के प्रभाव के कारण है।

माता-पिता, समाज, देश और काल के अतिरिक्त मनुष्य में एक और भी तत्त्व होता है जो उसके कर्त्तव्य कर्म के निर्णय करने में कारण होता है। वह है पूर्व जन्मों में मनुष्य में हुआ प्रकृति का कार्य। जिस प्रकार पर्वतों के बड़े बड़े शिला-खण्ड वर्षा के कारण बीसियों, पचासों वर्षों तक नीचे गिरते, टुकड़े टुकड़े होते और नदी के प्रवाह में आकर लुढ़कते और रगड़ खाते हैं। तब उनमें से कोई गोल हो जाता है, कोई एक ओर से लम्बा और तीन ओर से गोल इत्यादि और प्रायः प्रत्येक का आकार दूसरे से भिन्न होता हैं। इसी प्रकार वैश्व-प्रकृति के प्रवाह में आये हुए मनुष्य की प्रकृति का अनेक जन्मों से निर्माण होता आ रहा है। मनुष्य उस सबके संस्कार को साथ लेकर जन्म-ग्रहण करता है और यह संस्कार उसके कर्त्तव्य-कर्म के निर्णय करने में अधिक महत्व रखता है। गीता ने कहा है कि यदि मनुष्य को योग का अनुष्ठान करते हुए एक जन्म में सफलता न मिले तो वह अगले जन्म में पूर्वाभ्यास के वश फिर साधना करने को विवश होता है और अनेक जन्मों में साधना करते करते पूर्ण सिद्ध[1] हो जाता है। इस पूर्व संस्कार-समूह के ही कारण कभी कभी मनुष्य अपने माता, पिता, समाज, देश और काल के बंधनों को तोड़कर ऊपर उठ जाते हैं और अपने समाज और राष्ट्र को एक नवीन मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य-शास्त्र के अनुसार हमारे बुद्धि, अहङ्कार, मन, इन्द्रियाँ और शरीर त्रिगुणमयी प्रकृति के परिणाम हैं प्रकृति-शक्ति-रूपी महासागर की लहर के समान है। और इनके सब कार्य प्रकृति के ही कार्य हैं। वास्तव में हम विचार, इच्छा और कर्म नहीं करते अपितु प्रकृति-शक्ति हम में या हमारे द्वारा विचार करती है, इच्छा करती है और कर्म करती है। प्रकृति के इन कार्यों को अहंकार अपने चारों ओर केन्द्रित कर लेता है और इन्हें अपना

---

१. पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥६।४४॥
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।।६।४५॥

मान लेता है और इनका पुरुष से सम्बन्ध जोड़कर उसे यह भान करा देता है कि यह मेरे हैं, मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी, मोही, बद्ध हूँ। परन्तु पुरुष का यथार्थ स्वरूप ऐसा नहीं है। वह अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकृति की क्रियाओं का साक्षी, द्रष्टा, उनके प्रति उदासीन और असंग[1] है। जिस समय पुरुष को विवेक ख्याति हो जाती है और वह अपने-आपको प्रकृति और उसके व्यापार से पृथक् अनुभव करता है। तब वह अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित हो जाता है। उस समय वह प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता हैं और प्रकृति के गुणों का व्यापार बन्द हो जाता है।

इस पूर्वोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य के अनुसार विश्व में दो मूल तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष। ये दोनों एक दूसरे से पृथक् और स्वतन्त्र हैं। प्रकृति समस्त कर्मों के करने वाली है। पुरुष उन क्रियाओं का अनुमोदन करता है या सांख्य के शब्दों में प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। परन्तु वास्तव में पुरुष में अनुमोदन देने या प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की भी क्रिया नहीं है। इसलिए न वहाँ बन्धन-रूप क्रिया है और न मुक्त होने की कोई क्रिया। यह सब व्यापार प्रकृति में ही होता है। पुरुष तो हर अवस्था में निष्क्रिय, असंग, उदासीन, अकर्ता, अभोक्ता, मुक्त ही बना रहता है[2]।

परन्तु गीता सांख्य के इस सिद्धान्त से एक पद आगे बढ़ जाती है। उसकी दृष्टि में आत्म-ज्ञान प्राप्त होने और अहंकार-मुक्त होने के अनन्तर प्रकृति के कर्मों का बन्द होजाना अनिवार्य नहीं है और न यह पुरुष का सर्वोच्च लक्ष्य

---

१. तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्त्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थं दृष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ सां० का० १९॥

२. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ सा० का० ६२॥
रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ सा० का० ६३॥

या उसकी सर्वोच्च स्थिति ही है। गीता जीवात्मा के, अहंकार और प्रकृति के बन्धन से मुक्त होने के अनन्तर, अपने-आपको अकर्ता जानते हुए प्रकृति के द्वारा कर्म करते रहने या होते रहने को सम्भव मानती है और इस स्थिति को ऊँचा स्थान देती है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन करने के लिए गीता ने दो प्रकृति और तीन पुरुष के सिद्धान्त को अपनाया है। सांख्य की त्रिगुणमयी प्रकृति गीता के शब्दों में अपरा या निम्न श्रेणी की प्रकृति है। इससे उत्कृष्ट एक और प्रकृति है जिसे उसने परा कहा है। यह जड़ नहीं है अपितु चेतन है, अज्ञानमयी नहीं है अपितु पूर्ण ज्ञानमयी है, तम, रज और सत्वगुणमयी नहीं है अपितु सत्, चित्त और आनन्दमयी है। गीता ने क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम तीन पुरुष माने हैं। सांख्य का पुरुष जब प्रकृतिस्थ होने के कारण अपने-आपको कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी मोही, बद्ध मानता है तब वह क्षर स्थिति में होता है। जब वह अपने आपको असंग, उदासीन, अकर्ता अभोक्ता अनुभव करता है तब वह अक्षर होता है। इन दानों से ऊपर पुरुषोत्तम है जिसे ईश्वर, परमात्मा, परमपुरुष भी कहा जाता है। परा प्रकृति उसकी शक्ति है। यह परा प्रकृति ही सांख्य के पुरुषों (जीवों) और त्रिगुणमयी अपरा प्रकृति का रूप धारण करती है। सांख्य का पुरुष जहाँ प्रकृति से पृथक्, अकर्ता और उसके व्यापार के प्रति असंग उदासीन रहता है, गीता का पुरुष (पुरुषोत्तम) प्रकृति से तादात्म्य रखता है और उसके भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर उसके सम्पूर्ण कार्यों का अधिष्ठाता, प्रभु प्रवर्तक और नियन्ता रहता है। वास्तव में सांख्य की त्रिगुणमयी प्रकृति के समस्त कार्य इस ईश्वर, पुरुषोत्तम या उसकी परा प्रकृति के ही कार्य हैं[1]। उसके संकल्प के अनुसार ही प्रकृति कर्म करती है। मनुष्य के जितने भी कर्म

---

१. मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥९।१०॥

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥४।६॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ॥९।८॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१८।६१॥

होते हैं वे सब गीता के अनुसार त्रिगुणमयी प्रकृति के कार्य होते हुए भी उनके मूल में ईश्वर, उसकी परा-प्रकृति और उसका दिव्य संकल्प रहता है। इस दिव्य संकल्प को दिव्य इच्छा भी कहा जाता है। ईश्वर का यह संकल्प किसी दूसरी शक्ति की आधीनता में नहीं होता। वह पूर्णतया स्वतन्त्र है अतः उसका संकल्प या उसकी इच्छा भी पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं। जब तक जीव अपने-आपको स्वतन्त्र कर्ता समझता रहता है तब तक वह त्रिगुणमयी प्रकृति के आधीन, अज्ञान और अहंकार के वशीभूत होता है। अतः उसका कर्म और उसकी इच्छा स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते। जिस समय वह इश्वर और उसकी परा-प्रकृति से अपना तादात्म्य कर लेता है, त्रिगुणमयी प्रकृति से अतीत (त्रिगुणातीत) हो जाता है और अपनी ईच्छाको ईश्वर की इच्छा में लीन कर देता है और ईश्वर की दिव्य इच्छा उसके द्वारा साक्षात् किया करती है तभी उसे सच्ची स्वतन्त्र इच्छा की प्राप्ति होती है, इससे भिन्न समस्त इच्छायें त्रिगुणमयी प्रकृति की इच्छायें हैं, परकीय इच्छायें हैं, पराधीनता की, अपरा-प्रकृति की आधीनता की द्योतक हैं।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता कि पुरुषोत्तम या परमात्मा की इच्छा के अनुसार कर्म करने पर भी तो जीव को ईश्वर की इच्छा के आधीन, पराधीन होकर ही कर्म करना पड़ता है। अतः जीव को अहंकार-मुक्त हो जाने पर भी स्वतन्त्र या मुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका समाधान यह है कि जिस परमात्मा की इच्छा जीवात्मा की प्रकृति के द्वारा कर्म करती है वह जीवात्मा से भिन्न कोई विजातीय तत्त्व नहीं है। वह जीवात्मा का ही अपना आत्मा, उसका अपना स्वरूप, उसका अपना उच्चकोटि का स्वरूप (परम-आत्मा), उसका यथार्थ स्वरूप है, उसका अपना वृहत् स्वरूप (ब्रह्म) है। उपनिषदों ने यह आत्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म) मैं वही पुरुष हूँ (योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि), तू भी वही है (तत्त्वमसि), यह सब ब्रह्म है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) इत्यादि वचनों में इस भाव को स्पष्ट कर दिया है। अतः परमात्मा की इच्छा का जीवात्मा की प्रकृति के द्वारा साक्षात् कर्म करना उसकी स्वतन्त्रता, सच्ची मुक्ति है, पराधीनता या बन्धन नहीं। यह ऐसा है जैसे किसी एक झोंपड़ी के स्वामी दरिद्र व्यक्ति को

किसी विशाल देश का साम्राज्य मिल जाना। अतः वेदों ने इसे स्वाराज्य कहा है।

* * * * * *

ईश्वर के अस्तित्त्व को मानने वाले और उसे जीव और प्रकृति का शासक मानने वाले कुछ मत ऐसे हैं जो जीव को ईश्वर से पृथक्, पूर्णतया स्वतन्त्र कर्त्ता मानते हैं। परन्तु ईश्वर के अस्तित्व को एक बार मान लेने पर जीव को किसी प्रकार भी स्वतन्त्र कर्त्ता नहीं माना जा सकता। कारण ईश्वर सर्वज्ञ होता है, जैसाकि कहा गया है :

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्"

"वह सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता हैं" और सर्वज्ञ का अर्थ है त्रिकालज्ञ। इसका भावार्थ यह है कि विश्व में जो भी घटनायें होती हैं उन्हें ईश्वर अपनी अनन्त ज्ञान वाली दृष्टि में बहुत पहिले देख लेता है और तदनुकूल ही समस्त घटनाओं का निर्माण करता है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता म अर्जुन को कहा है कि इन धार्तराष्ट्रों की हत्या मैंने पहले ही कर रखी है। उन मेरे द्वारा हत हुये शत्रुओं को ही युद्ध में तुम्हें मारना है और तुम अवश्य जीतोगे[1]। और ईश्वर का ज्ञान और विधान सत्य होता है, कारण वह सर्वशक्तिमान्[2] है। उसके ज्ञान और विधान में कोई दूसरी शक्ति परिवर्तन नहीं कर सकती ; यदि कोई दूसरी शक्ति इसके ज्ञान और कार्यों में परिवर्तन करदे तो उसका ज्ञान मिथ्या हो जाय और वह साधारण जीवों के समान अल्पज्ञ और अल्प-शक्ति हो जाय। जैसे मनुष्य किसी कार्य को करते समय किसी विशेष परिणाम की आशा करता है, परन्तु अनेक वार परिणाम उसकी आशा से भिन्न हो जाता है, ऐसा ही ईश्वर के विषय में भी हो जाय। तब उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता। ईश्वर तो

---

१. मयैवैते निहताः पूर्वमेव ॥११।३३॥
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥११।३४॥

२. पराऽस्य शक्तिः ॥ श्वेताश्वतर ॥६।८॥

वही कहा जा सकता है जो सर्वज्ञ और सर्वमक्तिमान् है, जो जैसा अपने ज्ञान में सोचता है वैसा ही कार्य कर सकता है और उसके विधान में कोई दूसरी शक्ति लेशमात्र भी परिवर्तन नहीं कर सकती। अतः ईश्वर के अस्तित्त्व को एक बार मान लेने पर यह मानना अनिवार्य है कि जीव जब किसी समय किसी कर्म के करने या न करने का निर्णय करता है तो उसका ईश्वर को पहले से ज्ञान रहता है और जीव का निर्णय ईश्वर के ज्ञान और विधान के अनुकूल ही होता है, उससे भिन्न नहीं। अतः उसका अपने-आपको स्वतन्त्र कर्त्ता मानना उसका अज्ञान या अल्प-ज्ञान है।

जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता मानने वाले व्यक्ति इस विषय में यह कहते हैं कि जीव जो कर्म करता है उसका ज्ञान ईश्वर को उसी समय होता है पहले नहीं। परन्तु उनका यह कथन शास्त्र और युक्ति के विरुद्ध है। ईश्वर के अस्तित्त्व को मानने वाले प्राय: सभी शास्त्र उसे सर्वज्ञ, त्रिकालज्ञ मानते हैं जैसाकि उपनिषद् और गीता के वचनों से जो पहले दिखलाये जा चुके हैं, स्पष्ट है। अनेक ज्योतिषी और गुह्य विद्याओं के जानने वाले भविष्य की घटनाओं को ठीक ठीक बतला देते हैं। हमारे प्राचीन ऋषियों ने जो सत्य, त्रेता, द्वापर आदि युगों का विभाग किया है यह भूत और भविष्य को देखकर ही किया है। जर्मन देश में कीरो नाम का एक ज्योतिषी हुआ है जिसने रूस के राजा के विषय में पहले ही यह कह दिया था कि उसका अन्त रक्तपात के द्वारा होगा। जबकि अल्पयज्ञ और अल्पशक्ति माने जाने वाले मनुष्य को इस प्रकार भावी घटनाओं का ज्ञान हो सकता है तो सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाले ईश्वर को जीवों की क्रियाओं का ज्ञान पहले नहीं होता यह कथन केवल अन्ध विश्वास और हठधर्मिता ही कहा जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि यदि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं है और प्रकृति तथा ईश्वर ही सब कुछ करने वाले हैं तो मनुष्य पर उसके कर्मों का कोई उत्तरदायित्व नहीं लगाया जा सकता है। अतः चोरी जैसे कर्म करने वालों को न दोषी ठहराया जा सकता है और न सुधार के लिए कोई उपदेश दिया जा सकता है।

इस प्रश्न का समाधान यह है कि ये उच्चकोटि के सत्य और साधन हैं और उच्चकोटि की भूमिका पर ही इनका ठीक प्रकार अनुष्ठान हो सकता है। सभी साधन सभी मनुष्यों के लिये सब काल में अनुष्ठेय नहीं हो सकते। प्रत्येक प्राणी अपने विकास-क्रम में है। वह जड़ से वनस्पति में, वनस्पति से पशु में और पशु से मनुष्य श्रेणी में पहुँचता है। पशु तक उसका विकास केवल प्रकृति की शक्ति के द्वारा होता है। पशु में जो बुद्धि होती है उसका कार्य केवल जीवन धारण करने तक ही सीमित है। पशु अपनी बुद्धि से किसी उच्च लक्ष्य की कल्पना नहीं कर सकता। वह यह नहीं सोच सकता कि अमुक कर्मों के करने से मैं अगले जन्म में मनुष्य बन जाऊंगा और न वह किसी ऐसे कर्म का स्वेच्छा से अनुष्ठान ही कर सकता है। प्रकृति ही जब चाहती है पशु को मानव देह में ले आती है। परन्तु मनुष्य का विकास यद्यपि मुख्यतया प्रकृति का कार्य, ईश्वर की दिव्य इच्छा और शक्ति का कार्य है, तथापि मनुष्य की बुद्धि में किसी उच्च लक्ष्य के कल्पना करने की शक्ति और उसे प्राप्त करने और उसके लिये प्रयास करने की इच्छा रहती है। मनुष्य को अपनी बुद्धि से सद् असद्, पुण्य पाप, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, धर्म अधर्म आदि का विचार करते हुये आगे बढ़ना होता है। अतः यहाँ प्रारम्भ में अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता, स्वतन्त्र कर्त्ता आदि का भाव रहता है। यह उसके विकास की मध्यवर्ती भूमिका है जिसमें से उसे अनिवार्य रूप में चलना होता है। सीढ़ी के शिखर पर चढ़ने के लिये जैसे मध्यवर्ती सीढ़ियों का सहारा लेकर ऊपर चढ़ना होता है इस प्रकार पूर्ण-ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के लिये अहं कर्ता, अहं भोक्ता, अह स्वतन्त्रकर्ता वाली मध्यवर्ती भूमिका का अवलम्बन लेना होता है। जो मनुष्य चोरी और हत्या जैसे कर्म करता है, समझना चाहिये कि उसके भीतर निम्न कोटि के राजसिक कामना और अहंकार विद्यमान हैं। उसकी उन्नति तभी सम्भव है जबकि वह अपने-आपको इन कर्मों का कर्ता तथा उत्तरदायी समझे और इनके फलों का—जैसे जेल में रहने पर कोड़े लगना आदि का अथवा अगले जन्म में ईश्वर की ओर से मिलने वाले फलों (दण्डों) का—भोक्ता समझे। इस प्रकार एक धनी मनुष्य जब यह सोचता है कि राष्ट्रीय, सामाजिक या धार्मिक कर्मों के लिए धन दान करने से मुझे पुण्य मिलेगा, मेरा नाम और यश होगा, वह अपने-आपको दान का कर्ता और पुण्य,

यश आदि का भोक्ता समझता है तो वह हर्षपूर्वक दान देता है। इसके विपरीत जिस धनी मनुष्य में पुण्य आदि के प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती वह या तो अपने धन को लोभवश जोड़ता रहता है या अपने भोगविलास में उसका उपयोग करता है। वह सत्त्वगुण की ओर ऊपर उठने की अपेक्षा या तो तमोगुण की अकर्मण्यता में फंस जाता है या रजोगुण की भोगविलासिता में। इस जीवन को गीता ने पापमय और व्यर्थ कहा है :

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।३।१६।।

इस दोष से रक्षा करने के लिये गीता ने कहा है कि प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष घात लगाये बैठे हैं। उनके वश में न आना, वे आत्म-पथ में आत्मा के शत्रु हैं। आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है। जिस मनुष्य ने आत्मा के द्वारा आत्मा को वश में कर लिया है उसका आत्मा बन्धु हैं। जिसने आत्मा को वश में नहीं किया है। उसका आत्मा शत्रुवत् व्यवहार करता है[1]।

नीची भूमिका पर अहंकारवश मनुष्य मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) जैसे उच्च-कोटि के वेदान्त के सिद्धान्त का अपने अहंकार के लिए दुरुपयोग कर सकता है और अपने व्यक्तिगत देह, मन, बुद्धि आदि को ब्रह्म और दूसरों को माया का प्रपंच, तुच्छ, अपने-आपको श्रेष्ठ और दूसरों को नीच मानकर दूसरों का तिरस्कार कर सकता है। ऐसा मनुष्य यदि इस तथ्य को अपनी साधना में लाना चाहता है तो उसे अपने-आपको ब्रह्म मानने के साथ साथ दूसरों को भी समान रूप में ब्रह्म मानने (तत्त्वमसि) का अभ्यास करना चाहिए, अपने-आपको दूसरों से श्रेष्ठ न मानकर दूसरों को अपने समान मानना चाहिए, तभी वह उपर्युक्त

---

१. इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।३।३४।।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।६।५।।
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।६।६।।

दोष से बच सकता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति चोरी जैसा कर्म करता है और चोरी करने पर धन आते समय प्रसन्न होता है और यह समझता है कि प्रकृति और ईश्वर ने इन कर्मों को किया है, उसे जेल में कोड़े लगने पर भी समान रूप में यह समझना चाहिए कि प्रकृति और ईश्वर ने ही यह कर्म भी किया है और उसमें भी उसे वैसी ही प्रसन्नता का अनुभव करना चाहिए जैसी वह चोरी करने पर धन आते समय किया करता था। परन्तु चोरी जैसे कर्म करने वाला मनुष्य जोकि अहंकार और कामना का दास है कभी भी जेल में कोड़े लगने पर प्रसन्न नहीं होगा। उस समय उसकी यह आत्मवंचना कि प्रकृति और ईश्वर मेरे द्वारा कर्म करने वाले हैं दूर हो जायगी और वह अपने कर्मों का अपने-आपको उत्तरदायी मानने लगेगा। अथवा यदि वह जेल में रहने और कोड़े लगने पर भी सच्चे हृदय से प्र.न्न रहने की साधना करने लगेगा और उन्हें भगवान् का प्रसाद समझेगा तो कुछ समय में चोरी की प्रवृत्ति दूर हो जायगी। निःसंदेह अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता आदि का भाव भ्रम या अल्पज्ञान है परन्तु एक भूमिका पर उसके लिए हितकारी और उसकी उन्नति के लिए अनिवार्य है। मनुष्य को त्रिगुणातीत तो अवश्य होना है, परन्तु उसे क्रमशः आगे बढ़ना पड़ेगा। उसे तमोगुण की अकर्मण्यता से अतीत होने के लिए पहले अहंकर्त्ता, अहं भोक्ता आदि राजसिक अहंकार को अपनाना पड़ेगा और भाँति भांति के सुख-समृद्धि के साधनों के लिये प्रयास करना पड़ेगा। फिर रजोगुण से अतीत होने के लिए अहं पुण्यवान्, अहं दाता, अहं यशस्वी आदि सात्त्विक अहंकार का अवलम्बन लेना पड़ेगा। ऐसा होने पर फिर वह आत्मज्ञान और परमात्मा-ज्ञान के द्वारा त्रिगुणातीत हो सकता है और इस अहंकार का परित्याग कर सकता है।

वैश्व प्रकृति और ईश्वर के सब कुछ कर्त्ता होते हुए और समस्त कर्मों के पीछे ईश्वर की दिव्य इच्छा के रहते हुए मनुष्य जो अपने आपको स्वतन्त्र कर्त्ता समझता है इसका कारण यह है कि उसे अभी तक इनके यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं हुआ है। जिस समय मनुष्य को आत्मा, प्रकृति और ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्ष हो जाता है और समस्त कर्मों के पीछे ईश्वर की इच्छा कार्य करती स्पष्ट दिखाई देती है तब उसका यह दोष दूर हो जाता है। इनके यथार्थ स्वरूप की प्रारम्भिक झलक आने पर जब तक कि प्रकृति पूर्णतया शुद्ध

नहीं हो जाती, साधक को अपने भीतर अपनी व्यक्तिगत इच्छा और ईश्वर की इच्छा में भेद प्रतीत होता है। परन्तु जब इनके स्वरूप का पूरा प्रत्यक्ष हो जाता है और पराप्रकृति और ईश्वर से तादात्म्य हो जाता है तो यह भेद दूर हो जाता है। उस समय अपनी व्यक्तिगत इच्छा नहीं रहती, केवल ईश्वर की इच्छा और उसकी परा शक्ति ही एकमात्र कर्त्री अनुभूत होती हैं।

* * * * * *

करणाहंकार से मुक्ति

कर्तृत्वाहंकार से मुक्त होने पर कभी कभी मनुष्य करणाहंकार के बन्धन में फंस जाया करता है। बहुत से मनुष्य जो अपने भीतर किसी महती शक्ति को कार्य करती हुई अनुभव करते हैं और उसे अपने से भिन्न जानते है इस अहंकार में रहते हैं कि वे इतने अधिक महान् हैं कि विश्वशक्ति या ईश्वर ने उन्हें अपने महान् कार्यों को कराने के लिये उपकरण रूप में चुना है। इस अहंकार के अधीन होकर वे अपने-आपको दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं और अपनी श्रेष्ठता को दूसरों पर थोपने की, दूसरों से मनवाने की चेष्टता करते हैं। निःसन्देह जिन मनुष्यों में इस प्रकार की शक्ति कार्य करती है वे दूसरे साधारण मनुष्यों की अपेक्षा वीर, प्रतिभाशाली या ज्ञानी होते हैं। उनके कार्यों के महान् परिणाम होते हैं। वे समाज या राष्ट्र के नेता होते हैं। परन्तु उनका अपने-आपको ईश्वर या उसकी शक्ति का उपकरण मानने का अहंकार दूसरे साधारण मनुष्यों के अहंकारों की अपेक्षा अधिक गहरा, विशाल और उग्र होता है। अभी तक आत्मा, वैश्व प्रकृति और ईश्वर के यथार्थ स्वरूप का ठीक ठीक प्रत्यक्ष न होने के कारण और अपने-आपको दूसरों की अपेक्षा बड़ा बनाने की महत्त्वाकांक्षा के साधना में घुस बैठने के कारण वे इस अहंकार के वशीभूत हो जाते हैं।

इस अहंकार से मुक्त होने का साधन यह है कि साधक को यह अनुभव करना चाहिए कि मनुष्य जड़, वनस्पति और पशु से विकास करता हुआ मानव श्रेणी में पहुँचा है। उसका यह विकास प्रकृति या ईश्वरीय शक्ति के द्वारा होता है। यह शक्ति सबमें समान रूप से क्रिया करती है। उसका किसी से पक्षपात नहीं है। आज जो व्यक्ति चोर, डाकू, लुटेरे, विषयी, नीच, मूर्ख दिखलाई देते

हैं वे भी कभी न कभी साधु, महात्मा, दानी, परोपकारी, संन्यासी, श्रेष्ठ और ज्ञानी बन जायेंगे। जो मनुष्य आज संत, महात्मा, दानी, ज्ञानी दिखलाई देते हैं वे अपने पूर्वजन्मों में चोर, डाकू, लुटेरे, विषयी रहे होंगे जैसा कि वाल्मीकि और तुलसीदास अपने जीवन के पूर्व भाग में रहे हैं। अतः यह ईश्वर की दिव्य इच्छा और दिव्य शक्ति पर निर्भर करता है कि वह अपने दिव्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए किस समय किस व्यक्ति से किस प्रकार के कर्म कराती है। यदि आज किसी व्यक्ति में विशेष बौद्धिक, प्राणिक या शारीरिक शक्ति कार्य कर रही है तो यह विशेषता ईश्वरीय शक्ति की है न कि उस व्यक्ति की। यदि कुम्हार किसी पात्र को दूसरे की अपेक्षा अधिक सुन्दर बनाता है तो यह विशेषता उस कुम्हार की है न कि पात्र की[1]। इस प्रकार एकमेवाद्वितीय परमात्मा और उसकी विश्वव्यापि पराशक्ति की यह विशाल दृष्टि साधक को करणाहंकार से मुक्त कर देती है।

---

१. The difference between knawledge and ignorance is the grace of the spirit; the breath of Divine Power blows where it lists and fills today one and tomorrow another with the word or the puissance. If the potter shapes one pot more pefectly than another, the merit lies not in the vessel but the maker.

(Synthesis of Yoga I. XI)
American edition.

बारहवा परिच्छेद

मुक्त कर्म

मुक्त आत्मा के लिए कर्म की सम्भावना

कामना और अहंकार के बन्धन से मुक्ति और आत्म-दर्शन, ब्रह्म-दर्शन प्राप्त हो जाने पर मुक्तात्मा के किए कोई कर्म शेष हैं या नहीं और यदि शेष हैं तो उनमें क्या विशेषता होगी—ये प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका गीता के दृष्टिकोणसे समाधान होना आवश्यक है।

पहले प्रश्न का उत्तर भारत में प्रायः समस्त योग मार्गों (हठयोग, राज-योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि) की ओर से यह दिया जाता है कि मुक्तात्मा के लिए कोई कर्म शेष नहीं रहता। कारण, पृथ्वी पर मानव-जीवन दुःख रूप ही है। इसमें अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख, आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख[1] हुआ करते हैं। यदि कोई चिकित्सा आदि साधनों से कुछ शारीरिक या मानसिक रोगों को कम या दूर कर सके तब भी जन्म और मृत्यु के दुःख से बचना तो संभव ही नहीं है। इन समस्त दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो जाना ही मनुष्य के लिए चरम लक्ष्य है, उसका परम

---

१. ज्वर, अतिसार आदि शारीरिक और प्रिय-वियोगादि मानस दुःख आध्यात्मिक कहलाते हैं। शीत, उष्ण, अतिवृष्टि आदि आधिदैविक दुःख और अन्य प्राणियों से उत्पन्न होने वाले दुःख जैसे सर्प का काटना आदि आधि-भौतिक कहलाते हैं।

पुरुषार्थ है (अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः[1])। अतः आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, अहंकार कामना आदि से मुक्ति प्राप्त हो जाने पर मुक्तात्मा के लिए कोई कर्म कर्त्तव्यरूप में शेष नहीं रहता।

इसके अतिरिक्त, कर्म कामना-जन्य होते हैं, कामना अहंकार और अज्ञान-जन्य होती है। अतः यदि मुक्तात्मा कम करेगा उसे उच्च कामना, अहंकार और अज्ञान के बन्धन में बंधना पड़ेगा। यह उसका उच्च स्थिति से अधःपतन होगा। अधिक से अधिक, जबतक प्रारब्धवश शरीर विद्यमान है तब तक वह शरीर स्थिति-मात्र के लिए आवश्यक शौच, स्नान, भिक्षाटन आदि कर्म ही कर सकता है, इससे अधिक (कृषि, व्यापार, युद्ध, यज्ञ, देश-सेवा, समाज-सेवा जैसे कर्म) नहीं कर सकता। अतः कामना, अहंकारादि ने मुक्ति प्राप्त हो जाने पर कर्म का होना संभव नहीं है।

निःसन्देह, यदि पार्थिव जीवन दुखमय ही हो और इससे सदा के लिए मुक्त हो जाना ही मानव-आत्मा का चरम-लक्ष्य हो और समस्त कर्म कामना-जन्य और बन्धन-रूप ही हों तो मुक्तात्मा को कर्म करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। जितना ही शीघ्र वह कर्मों का और पार्थिव जीवन का परित्याग करदे उतना ही अच्छा है। संन्यासवाद, मायावाद और तत्सदृश या उससे प्रभावित मतों की यही शिक्षा है। परन्तु वह अन्तिम सत्य नहीं है। श्री अरविन्द ने बतलाया है कि सच्ची मुक्ति पुनर्जन्म से छूट जाना नहीं है, जिस प्रकार कि सच्चा संन्यास बाह्य कर्म-परित्याग नहीं है। सच्ची मुक्ति है भगवान् के साथ अन्तरात्मा की आन्तरिक एकता जिसमें पूर्व जीवन या भावी जन्म का बन्धन नहीं है अपितु अज आत्मा की सनातन सत्ता है। जो आन्तरिक रूप में मुक्त है वह कर्म करते हुए भी मुक्त है (कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः)। इसी प्रकार वह बार बार देह ग्रहण और परित्याग करते हुए भी मुक्त ही रहता है। वस्तुतः पुनर्जन्म से मुक्ति की कामना स्वर्गादि के समान एक प्रकार का प्रलोभन है। यह कामना विश्व में जीवन धारण को दुखमय मानकर उससे पीछा

---

१. सांख्य सूत्र।

छुड़ाने की भावना से उत्पन्न होती है। इसके मूल में हमारी प्राणमयी सत्ता की दुर्बलता है। यह अहंकार का अवशेष है। अहंकार के इस अंश से मुक्ति प्राप्त करने के लिए मुक्ति की कामना का भी परित्याग करना पड़ेगा[1]। इसके अतिरिक्त, जीवन-मरण के बन्धन से मुक्ति मानव-आत्मा के विकास का अन्तिम शिखर नहीं है, यह एक मध्यवर्ती भूमिका है। इसके अनन्तर, यदि मनुष्य अपना पूरा विकास चाहता है, अपनी अन्तर्निहित संभावनाओं को पूरे रूप में व्यक्त करना चाहता है तो उसकी प्रकृति के दिव्यीकरण की आवश्यकता और उसके मानव जीवन में भगवान् के दिव्य भाव की अभिव्यक्ति की और (दूसरों को इस कार्य में सहायता देते हुए) विश्व में अभिव्यक्ति की आवश्यकता शेष रह जाती है और यह कार्य अपने स्वभाव, आत्म-भाव और स्वधर्म के अनुसार मानव जीवन में भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म करने पर ही हो सकता है। अतः पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति प्राप्त कर लेने पर मुक्तात्मा के कर्मों का अन्त हो जाना अनिवार्य नहीं है। उसके अपने महत्तर विकास और उस विश्व के हित के लिए जिसके साथ कि उसका आत्मा एक है, मुक्तात्मा का मानव जीवन धारण करते हुए कर्म करना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त कर्मों का कामना-जन्य होना अनिवार्य नहीं है। जैसा कि पहले (परिच्छेद ८ में) कहा जा चुका है, जब तक मनुष्य की प्रकृति निकृष्ट कोटि की रहती है तभी तक उसके कर्मों की यह प्रवर्तक हो सकती है। त्रिगुणातीत हो जाने पर और त्रिगुणमयी प्रकृति के दिव्य हो जाने पर उसके कर्मों की प्रवृत्ति भगवान् के दिव्य संकल्प से, उसकी दिव्य ज्योति और शक्ति से हुआ करती है। गीता ने कामना के बिना कर्मों की प्रवृत्ति का वर्णन अनेक स्थानों[2] पर किया है। यदि कामना के बिना कर्म का होना सम्भव न हो तो गीता में

---

१. योग-समन्वय, प्रथम भाग, अध्याय १२।।

२. विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।।२।७१।।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।३।३०।।
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।।५।२६।।

कर्मयोग का आदर्श निरर्थक और असम्बद्ध-प्रलाप जैसा हो जायगा। अनेक महात्माओं के जीवन में निष्काम कर्म के उदाहरण मिलते हैं। साधारण मनुष्य भी अपने जीवन में अनेक प्रकार के कर्म निष्काम भाव से किया करते हैं। भगवान् अवतार ग्रहण करके निष्काम भाव से कर्म करते हैं और उन्होंने जनक का उदाहरण देते हुए अर्जुन को भी निष्काम होकर कर्म करने का आदेश दिया है।[1]

मुक्त कर्मों के लक्षण

अब यह प्रश्न शेष रह जाता है कि मुक्तात्मा के कर्म किस प्रकार के होते हैं? उनके क्या लक्षण होते हैं जिनसे यह पहचाना जा सके कि ये मुक्तात्मा के कर्म होते हैं? गीता मुक्तात्मा के कोई बाहरी लक्षण नहीं बतलाती। वह जान बूझकर नीतिधर्म का भी परित्याग कर देती है (सर्वधर्मान्परित्यज्य)। गीता ने मुक्तात्मा के कर्मों के जो लक्षण बतलाये हैं वे सब आन्तरिक और आध्यात्मिक हैं। उनकी पहिचान केवल आत्मज्योति से ही हो सकती है।

गीता ने कहा है कि मुक्त-कर्मों का, जिनके करने पर मनुष्य पूर्णतया दोष-मुक्त रह सके, स्थूल रूप में निर्णय करना बहुत कठिन होता है। कारण, जबतक मनुष्य की प्रकृति सदोष है, भली-भाँति शुद्ध नहीं हो गई है, तब तक जो भी कर्म मनुष्य करेगा उसमें कुछ न कुछ दोष बना ही रहेगा। जिस प्रकार अग्नि धुएँ से आवृत रहती है इसी प्रकार समस्त कर्म दोष से आवृत रहते हैं[2]। जो मनुष्य देश या समाज के हित के लिए कर्म करता है उसमें यह हित ही कामना का रूप धारण कर लेता है और बन्धन-रूप हो जाता है। वह अपने देश और समाज के हित में इतना स्वार्थान्ध हो जाता है कि दूसरे देश और समाजों के हित का खून कर देता है। धन आदि का दान करने पर दूसरों से मान, यश प्राप्त करने की कामना का होजाना अस्वाभाविक नहीं है, अगले जीवन में अधिक धन और सुख प्राप्त करने की कामना भी प्रायः आ जाती है। इस कारण बहुत से

---

१. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ॥३।१९॥

२. सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥१८।४८॥

मुनीषियों ने कर्म के सर्वथा परित्याग को श्रेयस्कर बतलाया है[१]। परन्तु गीता कहती है कि कर्म-जन्य दोष से (अशुभात्) मुक्ति प्राप्त करने के लिए कर्म का परित्याग अनिवार्य नहीं है। यदि मनुष्य अपनी आत्मा को भगवान् के साथ युक्त करले तो वह हर प्रकार के आवश्यक कम कर सकता है और दोषों से मुक्त रह सकता है (स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत)। इसके लिए मनुष्य को पहले कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप को जानना चाहिए। कर्म का अर्थ है कर्त्तव्य-कर्म। विकर्म का अर्थ है विपरीत कर्म या दुष्कर्म, जिसके करने पर मनुष्य परमात्मा से विपरीत दिशा में जाता हैं (न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः)। इसकी मनोवैज्ञानिक विवेचना गीता ने सोलहवे अध्याय में की है। अकर्म का अर्थ है कर्म-परित्याग। इसकी विवेचना तीसरे अध्याय में तथा अन्य अनेक स्थानों पर की है।

कर्त्तव्य कर्म का निर्णय करना बहुत कठिन है। अनेक वार बड़े बड़े विचारशील पंडित भी इस विषय में भूल कर जाते हैं। कारण, प्रायः मनुष्य अपने समग में प्रचलित कुछ व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक और वौद्धिक आदेशों या प्रथाओं से कर्त्तव्य कर्म का निर्णय किया करते हैं। कुछ विशेष देशों में कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछ कर्म धर्म या कर्त्तव्य के रूप में प्रचलित हो जाते हैं। कुछ समय तक कुछ अंशों में उनसे लाभ भी हो सकता है, परन्तु देश, काल और परिस्थितियों के परिवर्तन होने पर उनसे हानि होती है। उस समय उनका परित्याग कर देना आवश्यक होता है। परन्तु उनके प्रति कत्तव्य की भावना इतनी दृढ़ हो जाती है कि बड़े बड़े विचारशील पंडित भी उनके दोषों को नहीं पहचान पाते और यदि दोषों का ज्ञान भी हो जाय तो मोहवश उनका तब तक परित्याग नहीं करते जब तक कि उनके कुल, समाज या देश के विनाशकारी परिणाम स्थूल रूप में सामने नहीं आ जाते। उदाहरण-स्वरूप भारतवर्ष में महाभारत काल के आसपास राजाओं में जुआ खेलने का व्यसन घुस बैठा और जिस प्रकार युद्ध के लिये आह्वान को स्वीकार करना और युद्ध करना क्षत्रिय-धर्म का अंग माना जाता था इसी प्रकार जुए के लिए आह्वान मिलने पर उसे

१. त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥१८।३॥

भी स्वीकार करना और जुआ खेलना क्षत्रिय के लिए धर्म और कर्त्तव्य मान लिया गया और जिस प्रकार युद्ध में मृत्यु को क्षत्रिय कीर्तिकर मानते थे इसी प्रकार जूए में हार को भी क्षत्रिय के लिए कीर्ति-जनक माना जाने लगा। इसलिए युधिष्ठिर को भी जब धृतराष्ट्र और शकुनि ने जूए के लिए आमन्त्रित किया तो इसे स्वीकार करने में उसने अपने कर्त्तव्य (व्रत) का पालन माना[१] और हार जाने पर सभा में अपनी प्रियतमा के बाल पकड़कर लाये जाने और सबके सामने नग्न करने के प्रयत्न होने जैसे भीषण अपमान होने पर भी उसे अर्जुन ने कीर्तिकर माना[२]। कौरव कुल के और उस समय के क्षत्रियों के विनाश का यही कारण हुआ।

इसी प्रकार, मुस्लिम राजाओं के शासन काल में मुसलमान हिन्दुओं की अविवाहित युवतियों का बलपूर्वक अपहरण किया करते थे। इस कारण उस समय के बुद्धिमान् पंडितों ने दस वर्ष से पहले ही कन्याओं के विवाह को धर्म घोषित किया। निःसन्देह इस प्रथा से हिन्दू युवतियों का अपहरण कम हुआ परन्तु इससे बाल-विधवाओं की सृष्टि होने लगी और अल्पायु के विवाह से संतान रोगी और अल्पवीर्य होने लगी। मुस्लिम राज्य के चले जाने पर भी दीर्घकाल तक हिन्दुओं को अपने इस सामाजिक दोष का पता नहीं चला। जब ऋषि दयानन्द ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि इस दोष को पहचानकर देश के सामने प्रकट किया तो अधिकतर मनुष्य पुरानी प्रथा का ही अनुसरण करते रहे। जब मिस मेयो ने इस प्रथा की ओर हिन्दू-जाति की निन्दा में मदर इण्डिया (भारत माता) नामक एक पुस्तक लिखी और शारदा कानून बना तो इस कानून का बहुत काफी विरोध हुआ। उस समय बहुत से रूढ़ी-पंथी पंडितों ने शारदा कानून के कारण धर्म से च्युत होने के भय से अपनी छै छै मास की आयु वाली कन्याओं का विवाह कर दिया। आज भी बहुत से धर्म-भीरू पंडित अपनी कन्याओं का

---

१. आहूतो न निवर्त्तेयमिति मे व्रतमाहितम्। महा० सभा ५९।१८

२. आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन्।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्त्तिकरं महत्॥ म० सभा० ६८।९॥

विवाह दस वर्ष से पहले ही किया करते हैं। इसीलए गीता ने कहा है कि कर्म की गति (कर्त्तव्य कर्म का निर्णय करना) बहुत कठिन है (गहना कर्मणो गतिः)।

मुक्तात्मा का कर्म किसी मानव-निर्मित नियम या धर्म से संचालित नहीं होता (सर्वधर्मान् परित्यज्य)। कारण, उसकी चेतना मानव विधानों और नियम से परे दिव्य स्वतन्त्रता में पहुँच गई है, बाह्य और अनित्य के शासन से परे आन्तरिक और नित्य के शासन में पहुँच गई है। वह अपने कर्त्तव्य कर्म का निर्णय आत्म-ज्योति और भगवत्प्रेरणा से करता है।

गीता ने मुक्तात्मा के कर्मों के लक्षण बतलाते हुए कहा है कि उसके कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध होते हैं। कर्मों के दग्ध हो जाने का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य कर्मों का सर्वथा परित्याग कर देता है और सदा निष्क्रिय होकर जड़ समाधि में बैठा रहता है। अपितु वह यह जानता है कि स्थूल रूप में कर्म के परित्याग कर देने पर भी प्रकृति कर्म करती ही रहती है। अतः वह कर्म परित्याग (अकर्म) मेंकर्म को होता हुआ देखता है। वह भगवान् के आदेश के अनुसार प्रकृति को अपने भीतर कर्म करतेहुए देखता है और यह जानता है कि इन कर्मों के होते हुए भी उसका आत्मा कुछ भी नहीं करता (कर्मण्यकर्म पश्यति)। उसने आत्मा और प्रकृति के स्वरूप का विवेक-ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वह आत्मा और प्रकृति के विवेक करने वाली बुद्धि से युक्त सच्चा, श्रेष्ठ बुद्धिमान् होता है। उसका कर्म कर्तृत्वाभिमान से रहित होता है। कर्तृत्वाभिमान ही संपूर्ण कर्म बन्धनों का मूल कारण होता है। उसके न रहने पर उसके कर्म बन्धन-रूप कर्म-फल को उत्पन्न नहीं करते। अतः जिस प्रकार बीज के अग्नि मे जल जाने पर उससे कोई अंकुर उत्पन्न नहीं होता इसी प्रकार मुक्तात्मा के कर्म भी 'ईश्वर के आदेश से प्रकृति समस्त कर्म करती है, आत्मा कुछ भी नहीं करता' इस ज्ञान-रूपी अग्नि से दग्ध हो जाने के कारण कोई बन्धन-रूप-फल उत्पन्न नहीं करते। यह उसके कर्मों का प्रथम लक्षण है (ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्)।

मुक्तात्मा के कर्मों का दूसरा लक्षण है निष्कामता। जब तक मनुष्य अपने-आपको कर्त्ता मानते हुए कर्म करता है तब तक उसके फल की कामना भी

कुछ न कुछ अवश्य विद्यमान रहती है। जब कर्तृत्वाभिमान दूर हो जाता है तो स्वभावतः उसके फल की कामना भी नहीं रहती। फल की कामना के न रहने से उससे उत्पन्न होने वाले या उसके साथी क्रोध, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि भाव भी, जोकि साधारण मनुष्यों को कर्म में प्रवृत्त किया करते हैं, नहीं रहते (सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः)। उसमें कर्म को सफलता-पूर्वक करने की, उससे किए हुए अमुक कर्म का अमुक फल अमुक समय में अवश्य हो जाय ऐसी कामना भी नहीं रहती। कारण, वह जानता है कि फल का अधिकारी भगवान् है वह स्वयं नहीं है। कर्म का जो फल होगा वह भगवान् का है उसका अपना नहीं और वही उसके फल का, फल के परिणाम और काल का निर्णय करने वाला है, व्यक्तिगत अहं नहीं है। कर्म को इस रीति से करना कि जिससे उसका यश हो यह भाव भी मुक्तात्मा में नहीं रहता। कारण, उसकी दृष्टि में समस्त कर्मों के करने वाली भगवान् की शक्ति है और यश भी उसका ही है, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं। अतः कर्म का अभीष्ट फल मिलने पर वह अपने-आपको आहंकारिक रूप में यश का अधिकारी नहीं मानता। कर्म करते समय प्रभु को संतुष्ट करने की कामना भी उसके भीतर नहीं रहती। जो मनुष्य अपने-आपको कर्त्ता मानता है वही यह सोच सकता है कि मैं कर्म को इस रीति से करूं कि जिससे अमुक समय में अमुक फल हो जाए और प्रभु संतुष्ट हो जाएं। जो स्वयं भगवान् और उसकी शक्ति को समस्त कर्म करते हुए देखता है और अपने विषय में यह देखता है कि मैं कुछ भी नहीं करता (नैव किंचित् करोमि) तो प्रभु को सन्तुष्ट करने की कामना भी नहीं रहती।

इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मुक्तात्मा कर्म को कुशलतापूर्वक नहीं करता या फल के अनुकूल साधनों का ठीक ठीक उपयोग नहीं करता। इसके विपरीत, जैसा कि गीता ने दूसरे अध्याय में कहा है, योगी के कर्म पूर्णतया कुशल होते हैं। कारण मुक्तात्मा में भगवान् की अनन्त ज्ञान वाली प्रज्ञा और अनन्त बलवाली शक्ति कार्य करती है। उसका कार्य साधारण काम, क्रोध, हर्ष, शोक, सिद्धि, असिद्धि आदि द्वन्द्वों से चंचल और विकृत रहने वाली मानव-

बुद्धि और शक्ति की अपेक्षा अत्यधिक कुशलतापूर्वक होता है। अतः मुक्तात्मा फल के अनुकूल साधनों का ज्ञान और उपयोग साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक उत्तम रूप में करता है।

व्यक्तिगत कामनाओं की पूर्ति उद्देश्य न रहने पर मुक्तात्मा के कर्मों का उद्देश्य लोक-संग्रह[1] हो जाता है। 'लोक-संग्रह' का कुछ टीकाकारों ने यह अर्थ किया है कि किसी देश या समाज में जो कर्म, रीति-रिवाज धर्म या सत्कर्म माने जाते हैं, मुक्तात्मा उनका अनुष्ठान करता हुआ अपने उदाहरण से दूसरों को यह शिक्षा देता है कि उन्हें भी उनका अनुष्ठान करना चाहिए। यदि वह उनका उल्लंघन करेगा तो दूसरे भी करेंगे और वे धर्म से च्युत होकर अधार्मिक हो जाएंगे। अतः वह प्रचलित लोकमर्यादा की रक्षार्थ कर्म करता है। परन्तु यह अर्थ बहुत संकीर्ण है। जितने भी विशेष कर्म या रीति-रिवाज या धर्म के बाह्य रूप होते हैं वे सब देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार कुछ विशेष सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। वे ऐसे ऐकान्तिक या निरपेक्ष सत्य नहीं होते कि हर समय उन्हें उसी रूप में बनाए रखा जाए। देश, काल और परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर उनके मूलभूत सत्य के आवश्यक अंश को लेकर उनके बाह्य रूप में परिवर्तन करना आवश्यक होता है। अन्यथा उनसे कभी कभी विनाशकारी परिणाम हो सकते हैं। इसलिए हमारे शास्त्रकारों ने युग युग के अनुसार धर्म के भिन्न भिन्न रूप बतलाए हैं[2]। और यह परिवर्तन, यह भेद सच्चे रूप में मुक्तात्मा ही कर सकता है। कारण, उसे सत्य को देखने वाली सूक्ष्म-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। वह प्रचलित प्रथाओं के दोषों को और भावी युग के लिए हितकारी कर्त्तव्यों को अपनी सत्य-दृष्टि से

---

१. लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि।
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥३।२५॥

२. अन्ये कृतयुगे धर्माः त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ।। मनु० १।८५॥

देख सकता है। अतः मुक्तात्मा पर किसी भी विशेष कर्म, रीति-रिवाज या धर्म के बाह्य रूप को कर्त्तव्य रूप में नहीं लादा जा सकता। वह आत्म-ज्योति, सत्य-दृष्टि और भगवत्प्रेरणा के अनुसार जिसे लोक-हितकारी देखता है उसे ही करता है। यह संभव है कि वह पुरानी सामाजिक मर्यादाओं और प्रथाओं के भीतर ी अल्प और सीमित कर्म करता रहे और उनमें बाह्य रूप में कुछ भी परिवर्तन न करे। परन्तु मुक्तात्मा के ऐसे कर्म भी हो सकते हैं कि जो न केवल उसके बाह्य जीवन के रूपों और क्षेत्र को परिवर्तन देते हैं अपितु अपने आस-पास कुछ भी ऐसा नहीं छोड़ते कि जिसपर प्रभाव न पड़े, जिसमें परिवर्तन न होजाए। उसके कर्म नवीन समाज, नवीन धर्म और व्यवस्था की सृष्टि कर सकते है। वह संन्यास वेश भी धारण कर सकता है और साधारण गृहस्थी का जीवन भी व्यतीत कर सकता है। वह बुद्ध, शंकर, ईसा के समान मनुष्यों को उच्च ज्योति की ओर ले जाने में उनका साक्षात् नेतृत्व कर कता है। वह राम और श्रीकृष्ण के समान राजनीतिज्ञ और सेनानायकों के रूप में राज्यों का शासन भी कर सकता है। उसे इस बात की परवाह नहीं होती कि उसके समकालीन उसके कर्मों का समर्थन करते हैं या उसे धार्मिक और सामाजिक नियमों का विद्रोही और विध्वंसक मानकर उसका तिरस्कार करते हैं। साधारण अज्ञानियों के बनाए हुए नियमों और प्रथाओं के बन्धन में वह नहीं रहता। उसका संपर्क जब विश्वात्मा से होता है और उसे उसके दिव्य कर्मों का प्रकाश मिलता है तो वह देखता है कि जगन्नियन्ता परमेश्वर अन्त-र्यामी रूप से प्रत्येक जीव को अपने दिव्य-भाव (भगवद्भाव, मद्भाव, ममसाधर्म्य) की ओर ले जा रहा है। वही परमेश्वर स्थूल रूप में अवतार-रूप में मानव देह धारण करके मनुष्यों का साक्षात् पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व किया करता है। उसके इस महान् कार्य में उपकरण होकर स्वयं दिव्य-भाव को प्राप्त करने और दूसरे प्राणियों को उनकी इस यात्रा में सहायता देने और विश्व में उस दिव्य-भाव की अभिव्यक्ति के लिए कर्म करना ही लोक-संग्रहार्थ कर्म करना है जिसका भगवान् ने आदेश दिया है। यही मुक्तात्मा के कर्मों का सच्चा उद्देश्य

होता है[1], किसी संकीर्ण रीति-रिवाज या मर्यादा का बन्धन स्वीकार करना नहीं।

आध्यात्मिक निर्व्यक्तित्व मुक्तात्मा के कर्मों का तीसरा लक्षण है। मुक्तात्मा की अपनी व्यक्तिगत आशायें नहीं होतीं (निराशीः)। जो कुछ उसे भगवदिच्छा लाकर देती है उसे वह स्वीकार करलेता है और उसमें सन्तुष्ट रहता है (यदृच्छालाभसन्तुष्टः)। वह उसे अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर पकड़े नहीं रहता (त्यक्तसर्वपरिग्रहः)। विश्व के घटना-प्रवाह में जो वस्तु उससे जाती है उसे जाने देता है और उसके लिए शोक नही करता। उसके हृदय और मन उसके वश में होते हैं (यतचित्तात्मा), बाह्य विषयों के पीछे नहीं भागते और उनके आने तथा जाने में हर्ष और शोक का अनुभव नहीं करते। उसके कर्म केवल शारीरिक होते हैं। सिर खुजाना, पलक मारना, करवटें बदलना आदि कर्म केवल शारीरिक कहे जाते हैं। इन कर्मों में कोई कामना या किसी को हानि या लाभ पहुँचाने की भावना नहीं होती इसलिए इनका मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। मुक्तात्मा के सभी कर्म इसी प्रकार के होजाते हैं। कारण, वे सब भगवान् के दिव्य संकल्प से प्रेरित और उसकी शक्ति के द्वारा अनुष्ठित होते हैं, व्यक्तिगत अहं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि से नहीं। यदि उनमें कोई विघ्न-बाधा उपस्थित होती है तब भी मुक्तात्मा के मन में उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। इस कारण उसे कर्मजन्य पाप नहीं लगता। कारण, पाप कर्म में नहीं है अपितु कर्म के साथ रहने वाले काम-क्रोधादि भावों में है। मुक्तात्मा के मन में यह सब नहीं रहते, इसलिए उसके कर्मों का उसके मन पर कुछ भी बन्धनकारी प्रभाव नहीं पड़ता और वे सिर खुजाना, पलक मारना जैसे केवल शारीरिक ही हो जाते हैं।

शारीरिक कर्मों का अर्थ कुछ टीकाकारों ने शरीर स्थितिमात्र के लिए आवश्यक (शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनम्) शौच, स्नान, भिक्षाटन आदि किया है। यह मायावाद और संन्यासवाद का मत है। यदि इन्हीं कर्मों के करने पर मनुष्य

---

१. विस्तारपूर्वक योगसमन्वय १।१२ में देखा जा सकता है।

पाप-रहित होता हो तो गीता के कर्मयोग का कुछ भी महत्त्व नहीं होगा। कारण, कृषि, व्यापार, यज्ञ, युद्धादि कर्म तो उसके लिए पापरूप और बन्धनकारी बने ही रहेंगे और अर्जुन को भी युद्ध करने में पाप लगेगा और उसे दिया हुआ सम्पूर्ण उपदेश व्यर्थ होगा। गीता के कर्मयोग का महत्त्व तो तभी है जबकि वह मानव जीवन में किए जाने वाले साधारण से साधारण कर्मों के भी करने की ऐसी विधि बतलाये कि जिसके अनुसार कर्म करने पर पाप न हो। और "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः", "मोक्ष्यसेऽशुभात्", "स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्", "यज्ञायाचारतः कर्म समग्रं प्रविलीयते" इत्यादि वचनों से यह स्पष्ट होता है कि गीता ने उन समस्त कर्मों के लिए ही उस विधि का वर्णन किया है, केवल शौच, स्नान आदि कर्मों के लिए नहीं। रामानुजीय टीका से भी इस सिद्धान्त की पुष्टि[1] होती है।

मुक्तात्मा अपने व्यक्तित्व को निर्व्यक्तिक आत्मा के सांचे में ढाल देता है। उसका व्यक्तित्व, उसके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, हृदय और बुद्धि उसके अपने नहीं रहते अपितु पुरुषोत्तम के वैश्व कर्मों के उपकरण बन जाते हैं। अब वह अनन्त का मुक्तपात्र, पुरुषोत्तम का सजीव छद्म-रूप बन जाता है।

समता मुक्तात्मा के कर्मों का चौथा लक्षण होता है। कर्म का फल चाहे वह हो जिसे दूसरे मनुष्य सिद्धि कहते हैं या चाहे असिद्धि, मुक्तात्मा उनमें सम रहता है। कारण, वह जानता है कि भगवान् के दिव्य-सङ्कल्प से प्रेरित और उसकी दिव्य-शक्ति के द्वारा अनुष्ठित कर्म उससे निर्दिष्ट दिव्य परिणाम को, उससे निश्चित किए हुए काल में अवश्य उत्पन्न करते हैं, चाहे प्रत्यक्ष परिणाम उस अन्तिम परिणाम से भिन्न या विपरीत ही क्यों न जान पड़े। वह जय और पराजय को समान रूप में देखता है। वह विजय में हर्षित नहीं होता, कारण वह जानता है कि कर्म करने वाली जब भगवत्शक्ति है तो विजय भी उसकी ही है, व्यक्ति-विशेष की, उसकी अपनी नहीं। वह पराजय में शोक नहीं करता,

---

१. बुद्धिव्यापारभूतफलसंगादिराहित्यात् शारीरमित्युक्तम्।
(तात्पर्यचन्द्रिका)

क्योंकि वह जानता है कि भगवान् की शक्ति के द्वारा अनुष्ठित कर्मों में भगवद्-विधान के अनुसार उससे निर्धारित समय पर विजय अवश्य प्राप्त होती है, चाहे उसके कर्मों के परिणाम-स्वरूप प्रत्यक्ष पराजय ही क्यों न मिलती दिखलाई दे। पराधीन देश की स्वतन्त्रता, किसी नवीन धर्म या ज्ञान की स्थापना जैसे कुछ कर्म ऐसे होते हैं कि जिनके स्पष्ट परिणाम शताब्दियों में दृष्टिगोचर होते हैं। यह सम्भव हो सकता है कि मुक्तात्मा को स्वतन्त्रता के भाव के या किसी विशेष ज्ञान के प्रवर्त्तक के रूप में, प्रारम्भ में ही आना पड़े, उसका जीवन दूसरों से संघर्ष करने में ही बीत जाय, उसकी मृत्यु हो जाय और उसके जीवन-काल में कोई स्थूल बड़ा परिणाम न दिखलाई दे। परन्तु उसके उतने ही कर्मों का वह परिणाम अवश्य होता है जो कुछ समय के अनन्तर सुनिश्चित विजय को, निश्चित लक्ष्य को निश्चय ही प्राप्त कराता है। मुक्तात्मा यह जानता है कि जितना कर्म भगवान् को उसके द्वारा कराना है उसके अनुकूल उसकी शक्ति उसके भीतर अवश्य कार्य करेगी और वह ठीक समय पर निश्चित परिणाम, दिव्य विजय भी अवश्य लायगी। अतः वह कभी भी अपने-आपको पराजित अनुभव नहीं करता।

मुक्तात्मा समस्त **द्वन्द्वों से अतीत** होता है। साधारण मनुष्य पुत्रोत्पत्ति, धनागम आदि घटनाओं को शुभ मानकर उनमें हर्षित होता है और पुत्र-मरण धन हानि आदि घटनाओं को अशुभ मानकर उनमें दुखी होता है। परन्तु मुक्तात्मा इन समस्त घटनाओं को भगवान् के विधान में उसकी शक्ति के द्वारा स्वयं होने वाली घटनायें मानकर उनसे विचलित नहीं होता (शुभाशुभ परित्यागी)। वह पाप और पुण्य के भेद से अतीत होता है। जो मनुष्य अहंकार और कामना का दास है उसके लिए कर्म-जन्य पाप और पुण्य का विवेक करते हुये कर्म करना बहुत आवश्यक है, अन्यथा वह निकृष्ट प्रकृति के प्रलोभन में, रज और तमोगुण के निकृष्ट रूपों में फंसकर दुष्कर्मों में रत हो जायगा और आत्मोन्नति, भगवत्प्राप्ति के पथ से दूर हट जायगा (न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः)।मुक्तात्मा भगवान् में और दैवी प्रकृति में

स्थित रहता हुआ कर्म करता है, अतः उससे दुष्कर्म होने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए उसे कर्म के विपरीत फल (पाप और उसके परिणाम) से बचने की चिन्ता नहीं होती और न उसे सत्कर्मों, शुभ कर्मों से पुण्य प्राप्त करके स्वर्गादि सुख भोगने की लालसा होती है। वह मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, कीर्ति-अकीर्ति को समान रूप में देखता हुआ इनसे अतीत रहता है। साधारण मनुष्य अपनी अल्प बुद्धि से जिन कर्मों को श्रेष्ठ या अपनी रुचि के अनुकूल समझता है उनके करने वालों का मान करता है, उनकी स्तुति करता है, उनकी कीर्ति का गान करता है और जिन कर्मों को वह निकृष्ट या अपनी रुचि के प्रतिकूल समझता है उनके करने वालों का अपमान करता है उनकी निन्दा करता है। कुछ सीमा तक इससे लाभ भी होता है, कारण जो मनुष्य अहंकार और कामनाओंका दास है, जिसकी प्रकृति राजसिक या तामसिक है, उसे दुष्कर्मों से बचने और अपनी प्रकृति को सात्त्विक बनाने के लिए दूसरों के मान अपमानादि से पर्याप्त सहायता मिलती है। एक धनी मनुष्य को जब यह आशा होती है कि धन का दान करने पर दूसरे मनुष्य उसका मान करेंगे, उसकी कीर्ति का गान करेंगे और यदि नहीं देगा तो उसे कंजूस कहकर उसका अपमान करेंगे तो वह धन का दान कर देता है। यदि उसे मान मिलने की आशा न हो और अपमान का भय न हो तो वह दान नहीं करेगा। इसी प्रकार चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त होने वाले मनुष्य के हृदय में जब यह भाव आ जाता है कि उन कर्मों के करने पर दूसरे उसका अपमान और उसकी निन्दा करेंगे तो वह उनसे बचने का प्रयत्न करने लगता है। यही कारण है कि भगवान् ने गीता में अर्जुन को अपमान और अकीर्ति को मृत्यु से भी बुरा मानकर स्वयं अपने, अपने कुल और जाति के मान और कीर्ति की रक्षा करने के लिए युद्ध करने का आदेश दिया है। कारण, क्षत्रिय धर्म के अनुसार उसका यह कर्त्तव्य है। अन्यथा वह कायरता में फंस जाय और उसका अधःपतन हो जाय। परन्तु मुक्त मनुष्य को इन सब से अतीत होना होगा। कारण, जो मनुष्य सदा दूसरों से प्राप्त होने वाले मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, कीर्ति-अकीर्ति को ही दृष्टि में रखकर कर्म करता है निःसन्देह वह एक अच्छा मनुष्य हो सकता है, वह सात्त्विक प्रकृति का हो सकता है, किन्तु वह गुणों के बन्धन से मुक्त नहीं

होगा । कारण, सत्त्वगुण भी इसी प्रकार बंधनकारी होता है जैसे रज और तम । इसके अतिरिक्त, साधारण मनुष्यों की बुद्धि में अज्ञानान्धकार भरा रहता है । वे अपनी अल्प बुद्धि से जिन कर्मों को श्रेष्ठ और अपनी रुचि के अनुकूल समझकर मान या अपमान करते हैं उनमें प्रायः दोष रहते हैं । दूसरों से मिलने वाले मान अपमान को दृष्टि में रखने वाले मनुष्य को अनेक बार ऐसे कर्म भी करने पड़ते हैं जो अज्ञानान्धकार-जन्य होते हैं, जिनमें दोष होते हैं, जो अनुचित या विकर्म होते हैं । अतः उसे उनके विपरीत फल और बन्धन को भी स्वीकार करना पड़ेगा । वह त्रिगुणतीत और मुक्त नहीं होगा । परन्तु मुक्तात्मा आत्म-ज्योति में, भगवान् में, दैवी प्रकृति में स्थित होता है । वह सत्य ज्ञान के प्रकाश में कर्मों का निर्णय करता है, अथवा सर्वभूतों के सुहृद्, अनन्त ज्ञान वाले भगवान् स्वयं उसके कर्मों का निर्णय करते हैं,दूसरों के मान अपमानादि नहीं । उसके समस्त कर्म दूसरों के लिए हितकारी ही होते हैं (सर्वभूतहिते रतः) अतः उससे दुष्कर्म नहीं होते । यदि दूसरे मनुष्य उसका मान करते हैं तो वह जानता है कि यह मान उसका अपना नहीं है अपितु भगवान् की उस शक्ति का है जो कि उसके द्वारा कर्म करती है । यदि दूसरे उसका अपमान या उसकी निन्दा करते हैं तो वह समझता है कि यह उनका अज्ञान है, वे कर्म के केवल बाह्य रूप या परिणाम को देखते हैं उनके अन्तिम परिणाम को नहीं देखते । अतः वह इनसे अतीत रहता है ।

मुक्तात्मा युद्ध में सहसा प्रवृत्त नहीं होता परन्तु यदि घटना-प्रवाह में युद्ध उसके सर पर आ पड़े तो वह उसे स्वीकार कर लेता है । परन्तु जिससे वह युद्ध करता है, जिसके अधिकार और बल का वह विनाश करता है उससे द्वेष नहीं करता (विमत्सरः) । कारण, वह जानता है कि जिस प्रकार दो पहलवान परस्पर मल्ल-युद्ध करते हुए बलवान् होते हैं इसी ही प्रकार भगवान् ने परिस्थितियों का निर्माण इस रीति से किया है कि युद्ध से ही धर्म की रक्षा और प्रगति हो सकती है और उसका कुछ व्यक्तियों से जोकि दूसरे पक्ष में हैं युद्ध करना आवश्यक है । वह बाह्य रूप में युद्ध करते हुए भी शत्रु के प्रति आन्तरिक रूप में प्रेम, मित्रता और करुणा का भाव रखता है, जैसा कि भीष्म, द्रोण आदि का अर्जुन के प्रति और उसका उनके प्रति था, वह विद्याविनययुक्त ब्राह्मण, चांडाल,

साधु, पापी, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ, गाय, हाथी, कुत्ता आदि सबके प्रति समान रूप में आन्तरिक प्रेम, मित्रता और करुणा का भाव रखता है[1]। कारण, वह सबमें एकतम आत्मा को, उस परमात्मा को देखता है जिसके साथ उसका आत्मा एकीभूत हो गया है और जिसके द्वारा उसका आत्मा सबके साथ एकीभूत है (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सर्वभूतात्म-भूतात्मा)। वह अपने व्यक्तिगत जीवन से भी मोह नहीं करता; जिस प्रकार वह युद्ध में दूसरों का विनाश कर सकता है इसी प्रकार यदि भगवत्प्रेरणा हो तो उसके महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने शरीर का भी त्याग या बलिदान कर सकता है (निर्ममो निरहंकार)।

पूर्ण आन्तरिक आनन्द और शान्ति मुक्तात्मा के कर्मों का पांचवा लक्षण है। साधारण मनुष्य का सुख लौकिक पदार्थों की प्राप्ति और उनके भोग पर निर्भर करता है। यदि ये उसे न मिलें तो उसे दुःख होता है। परन्तु मुक्तात्मा विषय-जन्य भोगों को दुःख का कारण और विनाशी जानकर इनमें रमण नहीं करता[2]। वह इनके साथ संयोग और वियोग होने पर अनासक्त रहता है। उसे अपने भीतर ही एक प्रकार का दिव्य सुख मिलता है जो कभी भी क्षीण या नष्ट नहीं होता[3]। वह अपने भीतर आत्मा में रमण करता है, वहीं से तृप्ति और सुख को लेता है, वहीं से ज्योति प्राप्त करता है[4]। बाह्य पदार्थों के साथ सम्पर्क होने पर यदि वह सुख का अनुभव करता है तो वह विषय-भोग-जन्य वैषयिक सुख नहीं होता जैसा कि साधारण मनुष्य अनुभव करते हैं, अपितु वह वही दिव्य आनन्द होता है जोकि उस आत्मा का, ब्रह्म का स्वभावभूत है जो उसके

---

१. ५।१८; १२।१३॥

२. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥६।२२॥

३. बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तामा सुखमक्षयमश्नते॥ ४।२१॥

४. आत्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च, आत्मन्येव च संतुष्टः॥३।१७॥
अन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः॥५।२॥

अपने भीतर और समस्त जीवों और पदार्थों में विद्यमान है और समस्तभूत जिसके अभिव्यक्त रूप हैं, जिसके साथ उसका आत्मा एकीभूत है और जिनका आत्मा ही उसका आत्मा है (ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सर्वभूतात्मभूमात्मा)।

त्रिगुणातीत्य मुक्तात्मा के कर्मों का छठा लक्षण है। मुक्तात्मा देखना, सुनना छूना' सूंघना, खाना, चलना, सोना, श्वास लेना, बोलना, छोड़ना, ग्रहण करना आँख खोलना और बन्द करना आदि इन्द्रियों के समस्त व्यापारों को करता हुआ यह जानता है कि यह सब इन्द्रियों के व्यापार हैं। इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में क्रिया कर रही हैं। उसका आत्मा कुछ भी नहीं करता (नंव किंचित्करोति ४।२०; ५।८, ९)। उसका आत्मा त्रिगुणमयी प्रकृति में स्थित या लिप्त नहीं है अपितु उससे ऊपर अपने कूटस्थ अक्षर आत्म-भाव में स्थित है। वह त्रिगुणातीत हो गया है। वह सत्त्वगुण के कार्य प्रकाश और सुख को, रजोगुण के कार्य कर्मण्यता, क्रोध और दुःख को,तमोगुण के कार्य मोह अप्रवृत्ति आदि को अपनेअंगों में होता हुआ देखता है और उनसे द्वेष नहीं करता। यदि मनमें सात्त्विक प्रकाश और हृदय में सुख का भाव आता है तो वह उनसे आसक्त होकर अपने-आपको प्रकाशवान् और सुखी नहीं समझता और यह भी नहीं सोचता कि प्रकाश और सुख के ये भाव नहीं आने चाहियें। इसी प्रकार कर्म में प्रवृत्ति, दुख और मोह अप्रवृत्ति आदि के आने पर उनसे आसक्ति नहीं करता और अपने-आपको दुःखी, कर्मी, मोही, अकर्मी नहीं जानता। वह साथ ही यह भी नहीं चाहता कि ये न आयें। और जब एक गुण की क्रिया बन्द हो जाती है और दूसरे की होने लगती है तो यह भी नहीं चाहता कि पहले गुण की फिर होने लगे। वह इन सबको साक्षीरूप से समान भाव से देखता हुआ यह जानता है कि यह सब गुणों की क्रियायें हैं, गुणों की गुणों पर क्रिया-प्रतिक्रियायें हैं। कभी सत्त्वगुण बढ़कर रज और तम को दबा देता है, कभी रज बढ़कर सत्त्व और तम को और फिर कभी तम बढकर सत्त्व और रज को दबा देता है (गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते)। वह अपने आत्मा को इससे पृथक् जानता हुआ इस सब व्यापार के प्रति उदासीन रहता है, इनसे ऊपर अपनी आत्म-स्थिति में, स्वरूप-स्थिति में रहता है

(उदासीन) और इनसे लेशमात्र भी प्रभावित और विचलित नहीं होता[1]। उसने अपने कर्मो का आधान अक्षर ब्रह्म में कर दिया है(ब्रह्मण्याधाय कर्माणि)और वह ब्रह्मभूत हो गया है (ब्रह्मभूयाय कल्पते)। इससे आगे बढ़कर वह अपने कर्मों का संन्यास (अर्पण) पुरुषोतम में कर देता है (मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य और उसमें निवास करता है (निवसिष्यसि मय्येव)। वह भगवान् के दिव्य भाव को प्राप्त कर लेता है (मद्भावमागताः, मम साधर्म्यमागताः)। जिसप्रकार सागर की लहरें ऊपर ही ऊपर उठकर विलीन हो जाती हैं और वह भीतर से अक्षुब्ध अचल स्थिर रहता है इसी प्रकार मुक्तात्मा के कर्मों की प्रवृत्ति उसके अक्षर आत्मभाव दिव्यभाव, भगवद्भाव के अथाह सागर की गहराई से होती है और वे उसकी आन्तरिक शक्ति और निश्चलता पर कुछ भी प्रभाव छोड़े बिना विलीन हो जाते है :

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ।।४।२३।।

गीता के अनुसार यही मुक्तात्मा के कर्मों के लक्षण हैं।

---

१. प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।।१४।२२।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।।१४।२३।।

तेरहवां परिच्छेद

दिव्य कर्म

जिस त्रिगुणातीत स्थिति का वर्णन ऊपर किया गया है वह दो प्रकार की होती है। पहली वह स्थिति जिसमें प्रकृति सदोष बनी रहती है और तीन गुणों की क्रिया पुराने अभ्यास के कारण निकृष्ट कोटि की होती रहती है। दूसरी स्थिति वह है कि जिसमें गुणों का दिव्य रूपान्तर हो जाता है। पहली स्थिति में कभी कामना, शोक और हर्ष हृदय पर आक्रमण करते हैं। कभी अंगों में अप्रवृत्ति (कुछ भी करने की अनिच्छा), अशक्ति, आलस्य, थकावट, मोह, अन्धकार का अनुभव होता है। कभी हृदय, मन, और शरीर में प्रकाश, सुख और शान्ति आते हैं। परन्तु आत्मा इन सबको प्रकृति के गुणों के विकार तथा अपने से पृथक् देखता है और इनमें लिप्त या इनसे विकृत, विचलित नहीं होता। वह इनमें से किसी एक गुण के आने पर उससे घृणा या द्वेष नहीं करता और उसके चले जाने पर और दूसरे के आने पर पहले के फिर आने की इच्छा नहीं करता। वह इनकी क्रियाओं में कोई सुधार भी नहीं चाहता। इन्हे केवल साक्षी रूप में उदासीन भाव से देखता है (उपद्रष्टा, उदासीनवदासीनः)। प्रारब्ध-वश जब तक यह शरीर विद्यमान रहता है तब तक प्रकृति की इसी प्रकार की क्रियाएं होती रहती हैं। जब शरीर छूट जाता है तो वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है और उसे फिर मानव देह में नहीं आना पड़ता (न स पुनरावर्त्तते[1]; न निवर्त्तन्ति भूयः; न निवर्त्तन्ते[2])।

इस स्थिति में आत्मा आन्तरिक रूप में अपने स्वरूप-भूत, स्वाभाविक आनन्द, ज्योति और शान्ति में, अक्षर ब्रह्म में, अपने दिव्य भाव में स्थित रहता

---

१. उपनिषद्

२. गीता १५।४;६।।

हैं और उसके आन्तरिक भाव, अध्यात्म भाव, दिव्य-भाव का प्रभाव उसके बाह्य कर्मों[1] पर भी पड़ता है, अतः इस प्रकार के समस्त कर्मों को दिव्य-कर्म कहा जा सकता है। गीता ने कहा है कि मुक्तात्मा, ब्रह्मज्ञानी चाहे जैसा भी कर्म और व्यवहार क्यों न करे वह भगवान् में ही रहता है और कर्म करता हैं (सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥६।३१)। परन्तु जब तक प्रकृति सदोष है तब तक उसके कर्मों को मुक्त कर्म तो कहा जा सकता हैं, सच्चे अर्थ में पूर्णतया दिव्य नहीं कहा जा सकता। कारण, इस स्थिति में सत्ता के दो विभाग हो जाते हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक भाग आत्मिक शान्ति, शुद्ध ज्योति और आनन्द में रहता है परन्तु बाहरी प्रकृति पहले के समान सदोष बनी रहती है। उसमें केवल उतना ही सुधार होता है जितना कि आन्तरिक ज्ञान और शांति के लिए आवश्यक है। उसका दिव्य रूपान्तर नहीं होता। उस समय मुक्तात्मा बाहरी रूप में सर्वथा निष्क्रिय हो सकता है और जैसे जैसे परिस्थितियाँ उसे चलाती है वैसे ही उसकी क्रियाए होती रहती हैं (जड़वत्)। अथवा उसकी बाहरी प्रकृति के कर्म बालक के समान या उन्मत्त, चाँडाल या पिशाच के समान अव्यवास्थित हो सकते हैं। अथवा यदि बाह्य कर्मों में कुछ व्यवस्था होती है तब भी प्रकृति के सदोष होने के कारण वह आन्तरिक ज्योति, शान्ति, शक्ति और आनन्द को ठीक ठीक अभिव्यक्त नहीं कर सकती। उस आत्मा की दशा ऐसी होती है जैसे अयोग्य मन्त्रियों वाला राजा[2]। पूर्णतया दिव्य कर्म होने के लिए प्रकृति के दिव्य रूपान्तर की आवश्यकता है।

प्रकृति के दिव्य रूपान्तर की तीन भूमिकाऐं हैं—चैत्यरूपान्तर, अध्यात्म रूपान्तर और अतिमानस रूपान्तर। चैत्यरूपान्तर का प्रारम्भ तब होता है जबकि अन्तरात्मा या चैत्य पुरुष प्रकृति की क्रियाओं का उदासीन द्रष्टा न रहकर पथ-प्रदर्शक और शासक हो जाता है। सांख्य में जीवात्मा (पुरुष) और प्रकृति दो मूल तत्त्व हैं। सब कुछ कर्म करने वाली प्रकृति है, जीवात्मा सर्वथा निष्क्रिय है और वास्तव में तो उसमें प्रकृति के कर्मों का अनुमोदन

१. Life Divine II. XXVIII
२. Life Divine I. XIV

करने या न करने की भी क्रिया नहीं है। वह उससे अपने-आपको पृथक् जानकर उससे मुक्त हो जाता है, यद्यपि यह बन्धन और मुक्ति लाने वाली क्रिया भी प्रकृति की ही है, आत्मा की नहीं[1]। अतः वह विवेकज्ञान प्राप्त करने पर उसका शासक और नियन्ता नहीं हो सकता। परन्तु गीता में मूल तत्त्व एक है जिसे उसने पुरुषोत्तम, वासुदेव, परमात्मा, परम-पुरुष, ईश्वर कहा है। उसकी शक्ति है पराप्रकृति। यह पराप्रकृति ही अपराप्रकृति का रूप धारण करती है। पुरुषोत्तम इसका प्रभु, शासक, अध्यक्ष, नियंता है जो कि प्रकृति को कर्म में प्रवृत्त करता है। गीता के अनुसार जीवात्मा प्रकृति का अंश होने से उसमें भी यह शासकत्व शक्ति विद्यमान रहती है। इसलिए गीता ने उसे अनेक स्थानों पर ईश्वर, भर्त्ता, भोक्ता, प्रभु, विभु, परमात्मा, पर पुरुष कहा है[2]। अज्ञानावस्था में ऐसा प्रतीत होता है कि वह प्रकृति के आधीन है, प्रकृति उसपर शासन करती है वह प्रकृति पर नहीं। परन्तु सूक्ष्म रूप में आन्तरिक शासन तब भी रहता है। प्रकृति यदि पुरुष को बन्धन में डालती है तो इस कारण क्योंकि पुरुष उसका अनुमोदन करता है। यदि वह अनुमोदन न करे तो प्रकृति उसे बन्धन में नहीं फंसा सकती। ज्ञानवस्था में यदि आत्मा प्रकृति की क्रियाओं में सुधार या परिवर्तन करना चाहता है तो वह उनका उदासीन द्रष्टा नहीं बना रहता, वह उसकी सदोष क्रियाओं का अनुमोदन नहीं करता और अपने अनुमोदन और अननुमोदन को इतना अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली बना देता है कि प्रकृति को अपनी क्रियाओं के दोषों को छोड़ना और आत्मा की इच्छा के अनुसार अपने में परिवर्त्तन करना

---

१. रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण ॥ सां० का० ६३॥

२. शरीरं यदवाप्नोति यच्चाऽप्युत्क्रामतीश्वरः ॥१५।८॥
उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥१।२२॥
नादत्ते कस्य चित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ॥५।११॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥५।१४॥

पड़ता है। वह प्रकृति की सम्पूर्ण क्रियाओं को सत्य के प्रकाश में देखता है। प्रत्येक विचार, भावावेग, संवेदन, क्रिया, प्रतिक्रिया, उद्देश्य, कामना, सचेतन और अवचेतन शारीरिक प्रवृत्तियों को अपनी निर्भ्रान्त आत्म-ज्योति से प्रकाशित करता है, उनके अन्धकार, उनकी वंचनाओं और आत्म-वंचनाओं को प्रकट करता है, उनकी ग्रन्थियों को खोलता है। अपनी आत्म-ज्योति, आत्म-शक्ति और आत्म-इच्छा के बल से प्रकृति के दोषों को दूर करके उसे शुद्ध, सत्य की ओर जाने वाली, व्यवस्थित और समंजस्य बना देता है। वह प्रकृति को उसकी तामसिक जड़ता से, राजसिक कर्मण्यता और कामादि से और सात्त्विक अध-प्रकाश से मुक्त करता है। वह मन को विश्वात्मा, परमात्मा और पराशक्ति के अनुभव के लिए खोलता है। दूसरे प्राणियों के साथ आन्तरिक आत्मिक सहानुभूति, एकता और आन्तरिक संव्यवहार और आदान-प्रदान का सम्बन्ध स्थापित करता है। हृदय में भगवत्प्रेम और अध्यात्म आनन्द भग जाते हैं। शरीर और इन्द्रियाँ उच्चतर अनुभवों से प्रकाशित होते हैं। प्रकृति के गुणों में और मन, प्राण एवं शरीर में इस प्रकार का परिवर्तन होना ही चैत्य रूपान्तर है।

परन्तु प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के लिए यह पर्याप्त नहीं है। इसके अनन्तर अध्यात्म रूपान्तर प्रारम्भ होता है। साधक की दृष्टि अनन्त सत्ता, अनन्त चेतना, अनन्त आनन्द, अनन्त आत्मा, असीम ज्योति और असीम शक्ति के प्रति खुल जाती है। मन शुद्ध, अचल, अनन्त आत्मा के उच्चतर स्तर में आरोहण करता है; अथवा वह ज्योति और आनन्द के प्रदेशों में, या ऐसे स्तरों में जहाँ वह अनन्त शक्ति और भगवत्सन्निधि का अनुभव करता है, या ऐसे स्तरों में जहाँ उसका सम्पर्क दिव्य प्रेम, दिव्य सौंदर्य या व्यापक महत्तर ज्ञान से होता है—आरोहण करता है। इसके अनन्तर उन स्तरों की ज्योति शक्ति और आनन्द मन, प्राण और शरीर में अवतीर्ण होते हैं और वे इनका पुनर्निर्माण करते हैं। प्रकृति की परिसीमाएं दूर हो जाती हैं; भगवान् की निरन्तर सन्निधि अनुभूत होती है; उसके विश्व पर और हमारे आत्मा और प्रकृति पर शासन का अनुभव होता है; उसकी शक्ति हमारे भीतर और सर्वत्र कार्य करती दिखाई देती है; अनन्त की शान्ति और अनन्त का आनन्द ठोस रूप में अपने भीतर अनुभूत होते हैं। सम्पूर्ण

रूपों में उस सनातन ब्रह्म, परम पुरुष का दर्शन होता है, सम्पूर्ण शब्दों में उसकी ध्वनि सुनाई देती है, सम्पूर्ण स्पर्शों में उसका स्पर्श अनुभूत होता है, सब उसके रूप, व्यक्ति और अभिव्यक्तियाँ दिखाई देते हैं। हृदय में भक्ति और आनन्द, समस्त प्राणियों के साथ एकता, आत्मा का एकत्व स्थायी यथार्थताऐं हो जाते हैं। यही अध्यात्म रूपान्तर है।

परन्तु प्रकृति के दिव्य रूपान्तर के लिए यह भी पर्याप्त नहीं है। कारण, यहाँ जो अनुभव होता है सह मन के द्वारा होता है। यहाँ यद्यपि मन अपनी साधारण स्थिति से ऊपर चढ़ जाता है, उसपर अध्यात्म शक्ति का प्रभाव पड़ता है, परन्तु फिर भी वह मन ही रहता है, अपने ही स्तर का रहता है। इसका दिव्य रूपान्तर नहीं होता। जिस प्रकार मन और प्राण के भौतिक द्रव्य में, भौतिक जड़ता में अवतीर्ण होने पर इनकी शक्तियाँ क्षीण और विकृत हो जाती हैं और ये भौतिक द्रव्य में परिवर्तन करके उसे ऐसा यन्त्र नहीं बना सकते जो उनकी नैसर्गिक शक्तियों को प्रकट कर सके, इसी प्रकार वह अध्यात्म शक्ति जिसमें मन आरोहण करता है मन, प्राण और शरीर में अवतीर्ण होकर क्षीण-बल और विकृत हो जाती है और इसका दिव्य रूपान्तर नहीं कर सकती। वह केवल विज्ञान या अतिमानस तत्त्व है जो अपनी शक्ति को क्षीण या विकृत किए बिना पूरे वेग से क्रिया कर सकता है। यदि वह अपनी शक्ति को सीमित करता है तो अपनी इच्छा से, विवश होकर नहीं। मन जब उस अतिमन या विज्ञान में आरोहण करता है और वह वहाँ से मन, प्राण और शरीर में अवतीर्ण होकर क्रिया करता है तो ये दिव्य हो जाते हैं। उस समय तमोगुण दिव्य शान्ति और शाश्वत विश्रांति के रूप में परिणत हो जाता है जिससे और जिसके आधार पर कर्म और ज्ञान की दिव्य क्रीड़ा होती है। रजोगुण तप या चित्शक्ति की असीम क्रिया का रूप धारण कर लेता है, जोकि अत्यन्त तीव्र वेग से कार्य करते हुए भी आत्मा की अचल स्थिरता और शान्ति को लेशमात्र भी विचलित नहीं करती। सत्त्वगुण दिव्य-ज्योति और दिव्य आनन्द के रूप में परिणित हो जाता है। सत्त्व, रज और तमोगुणमयी अपरा प्रकृति शान्ति (सत्ता), चेतना और आनन्दमयी दैवी या परा प्रकृति के रूप में परिणित हो

जाता है। इस स्थिति में जो कर्म होते हैं वही सच्चे रूप में पूर्णतया दिव्य होते हैं।

* * * * * *

सांख्य में पुरुष (जीवात्मा) और त्रिगुणमयी अपरा प्रकृति दो मूल तत्त्व हैं। आत्मा सर्वथा निष्क्रिय है, समस्त कर्म करने वाली यह त्रिगुणमयी अपरा-प्रकृति ही है। इसकी क्रियाएँ सुख, दु:ख मोहात्मिका ही हो सकती हैं। इनमें अज्ञानान्धकार भरा ही रहता है। अतः इस मत में इस प्रकृति के दैवी प्रकृति में परिणत होने और पूर्ण ज्ञानी मुक्तात्मा के लिए पूर्ण ज्योतिर्मय दिव्य कर्मों के किए जाने का अवकाश नहीं है। मायावाद की दशा और भी अधिक दयनीय है। वहाँ ब्रह्म और माया दो तत्त्व हैं। ब्रह्म सांख्य के पुरुष के समान सर्वथा निष्क्रिय है। माया ही सब कुछ करने वाली है। यह पूर्णतया अज्ञानमयी, धोखा देने वाली, भ्रम उत्पन्न करने वाली और विनाशिनी है। पूर्ण ज्ञान होने पर इसका और इसकी क्रियाओं का इस प्रकार विनाश हो जाता है जैसे रज्जु के ज्ञान होने पर सर्प का, सर्प के भ्रम का और उससे उत्पन्न होने वाले भय आदि का। इसलिए न यह कभी ज्योतिर्मयी और दिव्य हो सकती है और न पूर्ण ज्ञानी मुक्तात्मा के लिए दिव्य कर्मों की संभावना है।

गीता ने अपरा और परा दो प्रकृतियाँ मानी हैं। अपरा प्रकृति त्रिगुणमयी है। परा प्रकृति सत्ता, चेतना और आनन्दमयी है, (सच्चिदानन्द) पुरुषोत्तम की शक्ति है। अपरा प्रकृति इस दैवी प्रकृति का ही परिणाम या रूप-विशेष है। अतः जैसे मिट्टी का कार्य घड़ा फिर मिट्टी का रूप धारण कर सकता है इसी प्रकार तम, रज, सत्त्व गुणमयी अपरा प्रकृति शान्ति (सत्ता), चित्शक्ति (चेतना) और आनन्दमयी परा प्रकृति का रूप धारण कर सकती है और इसे प्राप्त कर लेने पर मुक्तात्मा के कर्म पूर्णतया दिव्य होते हैं। इसलिए गीता में दिव्य कर्मों के लिए पूरा अवकाश है और निश्चय ही यह सिद्धान्त प्रचलित सांख्य और मायावाद से उत्तम है (रहस्यं ह्येतदुत्तमम्)।

परन्तु गीता में जिन अनुभवों और परिवर्त्तनों का वर्णन मिलता है वे

उच्चतम अध्यात्म स्तर के हैं। अतिमानस स्तर का "मद्भावमागता.", मम साधर्म्यभागता." आदि कुछ वचनों में संकेत-मात्र मिलता है, परन्तु वे "मद्भाव" और "मम साधर्म्य" क्या हैं और इनके प्राप्त करने के लिए साधक को किन विशेष भूमिकाओं में से बीतना होता है और इन्हें प्राप्त कर लेने पर उसके मन, प्राण और शरीर की क्या दशा होगी और उसके कर्म किस प्रकार के होंगे इत्यादि विषयों को उत्तम रहस्य के गोपनीय अंश के रूप में छिपा लिया गया है। इसके कारण स्पष्ट हैं। ये उच्चकोटि की वस्तुएं अनुभवैक-वेद्य हैं और इनका इस प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता कि जिसे वह मन समझ सके जिसने इस अतिमानस स्तर के रूपान्तर का अनुभव नहीं किया है और जो आत्मा उस ज्योतिर्मय प्रदेश में निवास करने लगा है उसके लिए शाब्दिक वर्णन दरिद्र, अपर्याप्त और निरर्थक है। यह भी सम्भव है कि जिस समय गीता का अर्जुन को उपदेश हुआ उस समय भगवान् ने मानव जाति को अतिमानस स्तर की साधना के लिए तैयार न देखकर गीता में उस रहस्य का विस्तारपूर्वक वर्णन करना उचित न समझा हो। अतः गीता उच्चतम अध्यात्म-मन की सीमाओं पर रुक जाती है और अतिमानस ज्योति के वैभवों में प्रवेश नहीं करती। परन्तु फिर भी गीता का अन्तर्यामी भगवान के साथ न केवल निष्क्रिय अपितु सक्रिय तादात्म्य का रहस्य, हमारी प्रकृति के भीतर निवास करने वाले पथ-प्रदर्शक और प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण का रहस्य केन्द्रीभूत रहस्य है। यह समर्पण अतिमानस परिवर्त्तन के लिए अनिवार्य साधन है और अतिमानस परिवर्त्तन के होने पर ही सक्रिय तादात्म्य सम्भव होता है[1]।

---

1. It is true that the path alone, as the ancient saw it, is worked out fully, the perfect fulfilment, the higest secret is hinted rather than developed; it is kept back as an unexpressed part of supreme mystery. There are obvious reasons for this reticence; for the fulfilment is in any case a matter of experience and no teaching can express it. It cannot be described in a way that can really be understood by a mind that has not the effulgent transmuting experience. And for the soul that

अतिमानस स्तरों का और उन्हें प्राप्त कर लेने पर जो मनुष्य के मन, प्राण और शरीर पर और मानव-जाति पर प्रभाव पड़ेगा और उनकी प्राप्ति के साधनों का सविस्तार वर्णन श्री अरविन्द के दिव्य जीवन, योग समन्वय आदि ग्रन्थों में मिलता है, यद्यपि उच्चतम स्तरों की साधना का सविस्तर वर्णन भविष्य[1] के लिए, सम्भवत: उस दिव्य अतिमानस देह के लिए छोड़ दिया गया

---

has passed the shining portal and stands in the blaze of the inner light, all mental and verbal description is as poor as it is superfluous, inadequate and an impertinence The Gita at its cryptic close may seem by its silence to stop short of that solution for which we are seeking; it pauses at the borders of the highest spiritual mind the does not cross them into the splendours of the supramental light. And yet its secret of dynamic, and not only static, identity with the inner presence, its hightest mystery of absolute surrender to the divine guide, Lord and inhabitant of our nature, is the central secret. This surrender is the indispensable means of supramentat change and again, it is through the supramental change that the dynamic identity becomes possible.

(Synthesis of Yoga III.)

1. The detail of method of the later stages of the yoga which go into little known or untrodden regions, I have not made publie and I do not at present intend to do so.

(Letters of Sri Arbindo Part I. Page 25
dated 5-10-1935)

है जिसे मानव-जाति के लिए प्राप्त करना उनकी योग-साधना का प्रधान लक्ष्य रहा है और जिसे सर्व-प्रथम धारण करके फिर दूसरी बार पृथ्वी पर आने का उन्होंने आश्वासन दिया है[१]।

॥ इति ॥

गीता-नवनीत का प्रथम भाग समाप्त ।

———

१. श्री अरविन्द ने ८ दिसम्बर, १९५० को श्री माता जी के प्रार्थना करने पर इस प्रकार सुनिश्चित आश्वासन दिया है :

"I shall manifest again in a supramental body built in the supramental way."

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	५	और उसे इस	और इस
६	२०	गम्भार	गम्भीर
१३	टिप्पणी	धर्मन	धर्मम
१४	५	थी	भी
१४	८	अच्छी	अच्छी या
१४	टिप्पणी	दित्ति	दिति
१७	५	भू	भु
१७	५	भोकान्	भोगान्
१८	८	राजं	राज्यं
१७	१६	देता है	देता है ।
१७	२१	जाय	जायं
१६	५	मम	मर्म
२१	२	स्वासाविक	स्वाभाविक
२४	७	है	हैं
२७	१	निरङ्कार	निरहंकार
२७	२१	उनका	उनकी
२७	२३	इनके	इसके
३०	टिप्पणी	अनुकम्प्रा	अनुकम्पा
३२	१	शुभलै	शुभफलै
३२	१३	ये	यह
३६	१७	आज्ञान	अज्ञान
४१	टिप्पणी	द्विथा	द्विधा
४३	१६	पृयक्	पृथक्

४३	टिप्पणी	सभ्य	सम्य
४४	टिप्पणी	सूक्ष्मम	सूक्ष्मम्
४४	टिप्पणी	परभार्षि	परर्भाषि
४५	४	स्यादाद	स्याद्वाद
४५	२४	प्रकृति में	प्रकृति से
४८	३	पुराने का	पुराने शरीर का
४८	१६	विषयों	विषयों के
६१	२६	तक	तक भी
७७	टिप्पणी	दुर्गति	दुर्गतिं
१०२	४	परिणाम	परिमाण
१०२	६	बढता	बढ़ता जाता
१०२	१८	रस	मिठास
१०२	१८	ठमिरस	मिठास
१०४	टिप्पणी	यतात्मन:	यतात्माना:
१०६	१३	उत्पन्न	इसके उत्पन्न
१२४	६	याज्ञर्थं	यज्ञार्थं
१४८	१६	उच्चतट	उच्चतर
१५२	११	१४	३४
१५८	टिप्पणी	साक्षित्त्व	साक्षित्व
१६०	२२	वृहत्	वृहत्
१६६	५	करेगा	करेगा तो
१७२	५	कृत	कृत्
१७३	१७	दृष्टि	दृष्टि से

सम्मतियां

दिव्य जीवन

भारतीय भाषाओं में अभी तक छपे अनुवादों में सर्वोत्तम; मेरठ, राजस्थान आदि विश्वविद्यालयों में दर्शन-शास्त्र की स्नातकोत्तर श्रेणियों के लिए पाठ्य-पु तक रूप में निर्धारित।

Acharya Keshava Deva is singularly equipped by temperment and training to achieve it—almost cut out for the feat, as few translators can be.

His meditative bent and pre-occupation with philosophy—Eastern and Western—and later his sole absorption in Sri Aurobindo's philosophy as the final refuge of his questing mind and, thirdly, his attempt at living out the philosophy of Life Divine by the practice of Integral Yoga for about 30 years now as an Ashramite when he tackled and chewed and digested every word and thought that offered difficulty—these formed his hardest preparation. An erudite scholar of Sanskrit that he is, synonyms and equivalents from traditional philosophies matching the teams used in 'The Life Divine' were at his command and make familiar reading of his text.

Sensitive to the nvances of style, the Acharya has judiciously avoided loading bis version with the corresponding long periodic sentences of the Master and split them into short ones.

It is a chase, fluent, lucid and felicitous Hindi that he wields, and his work reads like an original classic of a consummate writer.

It is a unique contribution to the Hindi language and literature. As the 'Life Divine' is being regarded as the best work on philosophy in this century, the translation of it by Sri Acharya, being most faithful and nearer to it in a highly literary philosophical language, would be hail'd as the best work on philosophy among the Indian languages, in our age.

Mother India
Sri Aurobindo Ashram
Pondicherry.

There are more than one translation of Sri Aurobindo's magnum opus, 'The Life Divine'. Sri K. D. Acharya's translation is singular in that it is very close and faithful both to the letter and spirit of the original text.

Sri Acharya's erudition, his Sadhhna and his devotion to the subject have greatly helped him in translating 'The Life Divine'. The translator shows an intimate grasp of the subject and his work brings out in a large measure the dynamic vision of 'The Life Divine'.

The work, I am sure, will be of immense use to post-graduate students in Philosophy, as well as in their research on the subject.

V. Madhusudan Reddy
Head of the Department of Philosophy
Osmania University, Hyderabad.

मैंने 'लाइफ डिवाइन' के सिद्धान्तों और कुछ शब्दों के हिन्दी पर्यायों के सम्बन्ध में आचार्य श्री केशवदेव जी से बातचीत की है। उनके उत्तरों को सुनकर उनकी विद्वत्ता, प्रतिभा और श्री अरविन्द के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उनके गम्भीर ज्ञान की गहरी छाप मेरे ऊपर पड़ी। मैं ऐसा समझता हूं कि श्री अरविन्द ने अपने 'लाइफ डिवाइन' नामक ग्रन्थ में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वे मानो सजीव हैं। श्री आचार्य जी ने अपने अनुवाद में उस सजीवता को सुरक्षित रखने का सफल प्रयास किया है। मुझे यह लिखते हुए हर्ष होता है कि आचार्य जी ने मूल ग्रन्थ के गम्भीर और जटिल भावों को सरल, सजीव और उच्च साहित्यिक भाषा में ठीक-ठीक व्यक्त करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। हिन्दी जगत् को और विशेषकर दर्शन प्रेमियों को श्री आचार्य जी के इस सत्यप्रास के लिए कृतज्ञ होना चाहिये।

डा० मंगलदेव शास्त्री
पूर्व उपकुलपति
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

समस्त अनूदित ग्रन्थ ऐसा सरल, स्वाभाविक और धाराप्रवाही है कि जिससे मूल ग्रन्थ के विषय को समझने में कठिनाई या रुकावट नहीं होती। किसी भी उच्च कोटि के अनुवाद में जो विशेषताएं होनी चाहियें वे प्रायः सभी इसमें विद्यमान हैं और इसलिए मुझे यह कहने में लेश मात्र भी संकोच नहीं है कि यह अनुवाद इस प्रकार के किसी भी अन्य प्रयास से श्रेष्ठ है।

डा० रामनाथ शर्मा
रीडर तथा अध्यक्ष, दर्शन विभाग
मेरठ कॉलिज, मेरठ विश्वविद्यालय

श्री अरविन्द जैसे बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक के लिए श्री स्वामी केशवदेव जी जैसे अनुवादक का मिलना वैसा ही है जैसा किसी कवि का कथन है :—

यह हुआ मणि-कांचन-योग है।
मिलन है यह स्वर्ण-सुगन्ध का।

श्री अरविन्द के महान् ग्रन्थों में सफल-सुन्दर प्रभावशाली अनुवाद के लिए कम से कम जो अधिकार एवं जितनी व्यक्तिगत योग्यता आवश्यक थी वह सब श्री स्वामी केशवदेव जी में एकत्र पाते हैं।

जिस प्रकार मूल ग्रन्थ श्री अरविन्द के भाषा-वैभव, विचार-गाम्भीर्य एवं रचना-कौशल से फूला-फला है, उसी प्रकार प्रस्तुत अनुवाद भी श्री आचार्य जी के प्रखर पाण्डित्य, अध्ययन-अध्यापन एवं चिन्तन-मनन का सत्परिणाम ही नहीं, श्रद्धा एवं निष्ठा का भी सुन्दर परिचायक है। इसके अतिरिक्त, योग-साधना के प्रभाव से उनकी भाषा में एक विशेष प्रकार का ओज है जिसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इस अनुवाद में शास्त्रीय शुद्धता के साथ-साथ ऐसी सरलता स्वाभाविकता और स्पष्टता विद्यमान है कि पाठकों को पढ़ते समय कहीं रुकने या मूल ग्रन्थ को उलटने की आवश्यकता नहीं होती।

पारिभाषिक शब्दों के चुनाव, भावों की स्पष्टता, उच्च साहित्यिक भाषा तथा मूल ग्रन्थ की भावना के अधिक निकट होने के कारण भारतीय भाषाओं में अभी तक छपे अन्य सभी अनुवादों में श्रेष्ठ है। भाव और भाषा की दृष्टि से जिस प्रकार 'लाइफ डिवाइन' विश्व का उच्चसम कोटि का मौलिक ग्रन्थ है, इसी प्रकार उसके भावों को बहुत निकटता एवं स्पष्टता के साथ उपयुक्त भाषा में अभिव्यक्त करने के कारण यह अनुवाद हिन्दी भाषा में अपनी अनूठी मौलिकता रखता है जो प्रायः दुर्लभ होती है।

—कोशा

दर्शन शास्त्र की स्नातकोत्तर श्रेणियों, प्राध्यापकों और दर्शन शास्त्र पर विशेष अनुसन्धान करने वालों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

—हिन्दुस्तान

दिव्य जीवन रहस्य

यह लघु पुस्तिका श्री अरविन्द कृत 'लाइफ डिवाइन' नामक ग्रन्थ के दूसरे भाग के दूसरे खण्ड के अनुवाद की भूमिका के रूप में है। इसके पढ़ने से पाठकों को दिव्य जीवन ग्रन्थ में प्रतिपादित श्री अरविन्द के जटिल और गंभीर दार्शनिक विचारों का कम से कम शब्दों में युक्तियुक्त बोध हो जाता है।

GUIDE TO SRI AUROBINDO'S PHILOSOPHY

Here is an assortment of terms of cardinal importance in the Aurobindo-vocabulary, presented under ten subject oriented chapters such as Reality and its aspects, Gods, Consciousness, Supermind, Transformation, Divine Life etc. with descriptions and expositions churned out of the vast literature of Sri Aurobindo. Thus, all that the Master has said at various places on the key-terms of the Integral Yoga and philosopy (which the readers seek most to understand—terms such as the Psychic, the Vital, the subliminal, the Intuition, the Supermind and so on and so forth) have been brought together to provide annotations to them.

The work should serve as a fine guide to the readers of Sri Aurobindo's literature.

—Mother India

The explanations of the special terms used by Sri Aurobindo in his works are so arranged that the readers may from a clear, synthetic and complete idea of Shi Aurobindo's

philosophy in the shortest possible compass. It is a good introduction and will make the study of the complete works easier.

Mail

श्री अरविन्द दर्शन प्रवेशिका

यह पुस्तक श्री आचार्य केशव देव जी के द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तक Guide to Sri Aurobindo's Philosophy का परिवर्धित हिन्दी संस्करण है। श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थों में जिन दार्शनिक और आध्यात्मिक पारिभाषिक शब्दों को प्रयोग किया है उनकी श्री अरविन्द की ही भाषा में संक्षिप्त व्याख्या का अनुवाद इस पुस्तक के पहले भाग में दिया गया है। पुस्तक के दूसरे भाग में श्री आचार्य जी ने उन शब्दों की सरल भाषा में व्याख्या और विवेचना की है। उन व्याख्याओं को इस प्रकार क्रमबद्ध किया गया है कि जिससे पाठक को कम से कम शब्दों में श्री अरविन्द के दर्शन का परिचय प्राप्त हो जाता है और उनके गंभीर भावों के समझने के लिए एक दृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है।

गीता विज्ञान

'गीता-विज्ञान' में लेखक ने 'एस्सेज ऑन दी गीता' में से श्लोकों के प्रत्येक शब्द के अर्थों का चयन करके पृथक् पृथक् हिन्दी अनुवाद किया है और गम्भीर भाव नीचे टिप्पणी के रूप में दिये हैं। इस प्रकार अन्वय, पदच्छेद, अर्थ और भावार्थ सहित यह ग्रन्थ साधारण संस्कृत-हिन्दी पढ़े-लिखों के लिए भी श्री अरविन्द के गम्भीर आध्यात्मिक और दार्शनिक भावों में प्रवेश का द्वार खोल देता है।

विज्ञान (Supermind) के आलोक में गीता की यह व्याख्या भारतीय धर्म और दर्शन के प्रति एक सुसम्बद्ध नवकृत रूप उपस्थित करती है। निःसन्देह यह एक अभिनव प्रयास है

—विश्व ज्योति

The author has tried to be faithful not only to the spirit but to the very letter of Sri Aurobindo's interpretation (of the Gita) as set forth in his 'Essays on the Gita'. Those who want to understand the synthetic and dynamic virile teaching of the Gita are advised to pursue its pages with care. This book is expected to serve as a competent guide to all Hindi-knowing seekers after spiritual perfection.

—Mother India

The 'Gita Vijnana' is a faithful translation of all the shlokas and the teachings of the Gita contained in Sri Aurobindo's 'Essays on the Gita'. Its author Sri Keshava Deva Acharya is an inmate of Sri Aurobindo Ashram and a learned scholar of Sanskrit. He has already written several treatises dealing with Sri Aurobindo's works and writings, he is, therefore, fully qualified to translate Sri Aurobindo's book. The 'Gita Vijnana' is an excellent monograph for readers who are spiritually inclined and are naturally anxious to grasp the true interpretation of the shlokas of the Gita.

—Pioneer

गीता प्रदीप

प्रस्तुत पुस्तक श्री अरविन्द के 'एस्सेज ऑन दी गीता' में से संकलित गीता के श्लोकों के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर है। श्री अरविन्द आश्रम के वायुमण्डल में पोषित अनुभवी तथा विद्वान् व्यक्ति द्वारा होने के कारण अनुवाद सभी वर्गों के पाठकों के लिए बोधगम्य है, प्रामाणिक तो होना ही चाहिये।

—जीवन साहित्य

'गीता प्रदीप' पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह न केवल योगिराज श्री अरविन्द द्वारा गीता के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर है अपितु उसे इस प्रकार सरल, सुबोध भाषा तथा ओजस्वी एवं हृदयग्राही शैली में प्रस्तुत किया गया है कि पाठक लम्बी व्याख्याओं के चक्रव्यूह में फंसे बिना गीता के मर्म तक पहुंच जाता है।

—नवभारत टाइम्स

गीता नवनीत

'गीता-नवनीत' के लेखक श्री स्वामी केशवदेव जी आचार्य भारत के उन गिने-चुने थोड़े से व्यक्तियों में से हैं जिन्हें श्री अरविन्द के विचारों को हिन्दी भाषा द्वारा देश में प्रचार करने का अधिकारी कहा जा सकता है। आपने हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में रहकर भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों का गहरा अध्ययन किया है। आपने लगभग बारह-तेरह वर्षों की कठोर साधना और तपस्या से गीता और 'ऐस्सेज ऑन दी गीता' को मथकर उनमें से 'गीता-नवनीत' निकाला है। यह पुस्तक गीता के विषय में एक महत्वपूर्ण रचना है। मेरा विश्वास है कि इसके द्वारा गीता और श्री अरविन्द के गम्भीर भावों में हिन्दी जानने वाले सरलता से प्रवेश पा सकेंगे।

—डा० भिक्खनलाल आत्रेय

अध्यक्ष दर्शन, मनोविज्ञान, धर्म तथा भारतीय दर्शन

काशी विश्वविद्यालय।

आचार्य केशवदेवजी ने श्री अरविन्द की दृष्टि से गीता-ज्ञान को जन-साधारण तक पहुँचाने का जो कार्य 'गीता-नवनीत' के द्वारा किया है वह

प्रशंसनीय है। गीता के मूल विषय को इतनी हृदयग्राही शैली में समझाया गया है कि इसमें तनिक भी बोझ नहीं मालूम होता।

—**नवभारत टाइम्स**

श्री अरविन्द के 'गीता प्रबन्ध', 'दिव्य जीवन', 'योग समन्वय' आदि ग्रन्थों के गहरे अध्ययन से लिखा गया है और लेखक की तीक्ष्ण बुद्धि और उच्च कोति के अनुभव का परिचय देता है। राष्ट्रभाषा में एक नया रत्न है।

—**प्रभात**

In this book the author has shown a masterly grasp of the philosophy of the Upnishads, crystallised and synthesised in the Flute-player's Song Dlvine. Sri Aurobindo's spirit is imperceptibly betrayed in the comprehensive thoroughness, exhaustiveness, depth of study, erudition, happy precision and choice of words, all richly employed and expressed in the logical interpretation and meaning of such a difficult theme as the Gita।

—**Pioneer** (Lucknow)

Sri Swami Keshava Deva Acharya has done a really praiseworthy intellectual feat by writing two volume of the 'Gita-Navanita' in Hindi in the light and spirit of Sri Aurobindo's 'Essays on the Gita'. He has certainly fulfllled a long-felt need of Hindi-knowing public to drink deep at the pure and pristine spring of the Gita.

—**Leader** (Allahabad)

Acharya Keshava Deva's 'Essays on the Gita' are comprehensive, exhaustive and profound. They are the product of not only his personal studies of the Gita and various commentaries on it but his own meditative reflection and intuitive perceptions. Sri Aurobindo has no doubt been an excellent guide for him, but the style, the presentation, the copious illustrations with the help of which abstruse philosophical questions are solved are all his own. These essays give us nearly all the exhaustive and learned matter of Sri Aurobindo's book ('Essays on the Gita') in a quite simple, lucid and easily graspable Hindi language.

—**Indian Nation** (Patna)

आत्म-समर्पण योग

भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में जिस योग को अपना उत्तम रहस्य, गुह्यतम रहस्य कहा है, वह आत्म-समर्पण योग ही है। विद्वान् अनुभवी लेखक ने—किसका समर्पण किया जाय, किसे किया जाय, कैसे इसे आरम्भ किया जाय और फिर कैसे क्रमशः आगे बढ़ाया जाय—इन सब रहस्यों का प्रकाश जिस क्रमिक भूमिका में और सरल एवं स्पष्ट भाषा में किया है उससे यह गूढ़तम विषय बहुत ही सरल हो जाता है। अनेक उच्च कोटि के आध्यात्मिक ग्रन्थों और महात्माओं के विषयोपयोगी उत्तम-उत्तम वचनों के उद्धरण से विषय प्रतिपादन में अपूर्व रोचकता आ गई है। गीता के शरणागति योग को अपने जीवन में लाने की इच्छा रखने वालों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

—**प्रभात**

'गीता-नवनीत' और 'आत्म-समर्पण योग' दोनों पुस्तकें बहुत अच्छी हैं। उनके प्रसार से लोगों को सत्य की खोज में बहुत अच्छा प्रकाश मिलेगा। आपकी सत्क्रिया के लिए धन्यवाद।

—**हनुमानप्रसाद पोद्दार** (सम्पादक 'कल्याण')

सत्य का रहस्य

इसमें प्राय: सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध धर्मों के महात्माओं के वचनरूपी रत्नों को जिस सुन्दरता के साथ एक सूत्र में ग्रथित किया गया है उससे यह पुस्तक एक अद्‌भुत प्रभा से जगमगाती-सी जान पड़ती है। इसके पढ़ने से संकीर्ण साम्प्रदायिकता दूर होती है और हृदय में समस्त धर्मों के प्रति प्रेम, सौहार्द और एकमानवता की भावना जागृत होती है।

देश में स्वतन्त्रता के बाद जो सर्वसाधारण में भ्रष्टाचार और विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता जैसी निम्न कोटि की प्रवृत्तियां बढ़ती दिखाई दे रही हैं और विचारशील मनुष्यों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय बनी हुई हैं उनके निराकरण में और जीवन को श्रेष्ठ एवं उन्नत बनाने में इस पुस्तक से पर्याप्त सहायता मिलेगी—ऐसी मेरी धारणा है।

—श्री अनन्तशयनम् अय्यंगर

(भू० पू० अध्यक्ष लोकसभा)

'सत्य का रहस्य' जो पुस्तक का नाम है उसे वास्तव में जान और पहचान सकना सरल नहीं। ऐसे गूढ़ तत्त्व को समझना और उसका आत्मानुभव करना ही जीवन का सुन्दरतम रहस्य है। श्री स्वामी केशबदेव जी ने इसको अनेक रूपों में सरल बनाकर समझाने का प्रयास किया है तथा अनेक महापुरुषों के जीवन की विभिन्न घटनाओं का उल्लेख कर व्यावहारिक जीवन में कैसे सत्य का अवलम्बन किया जाय उसे सुन्दर और सरल रूप में व्यक्त किया है।

—श्री लालबहादुर शास्त्री

(भू० पू० प्रधानमन्त्री)

इस पुस्तक में आचार्य केशवदेव जी ने श्री अरविन्द और माताजी की शिक्षा का अनुसरण करते हुए, सत्य क्या है और कैसे उसे जीवन में अपनाया जाय, इन प्रश्नों का सुन्दर, सरल, समुचित, सारगर्भित उत्तर दिया है।

श्री अरविन्द शब्दकोष

श्री अरविन्द द्वारा 'लाइफ डिवाइन' आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त लगभग ५००० अंग्रेजी शब्दों के लगभग १२००० हिन्दी समानार्थक इस कोष में दिये गये हैं।

लगभग १४०० अंग्रेजी शब्दों के लगभग ३००० संस्कृत समानार्थक ऐसे दिये गये हैं कि जिनका स्वयं श्री अरविन्द ने अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है और वे हिन्दी तथा भारत की दूसरी भाषाओं में प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

आचार्य जी ने श्री अरविन्द के विशिष्ट शब्दों के जो हिन्दी समानार्थक इस कोष में दिये हैं वे इस प्रकार के हैं कि जो सुनते ही श्रोता को उनके उन आन्तरिक भावों का आभास करा देते हैं जो मूल ग्रन्थ के बार बार अध्ययन करने पर भी प्रायः बुद्धिगम्य नहीं होते।

इस कोश के लिए उन्होंने अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी समानार्थक बहुत अध्ययन और परिश्रम के द्वारा प्राचीन साहित्य में से खोज कर निकाले हैं। साथ ही उन्होंने नवीनतम प्रकाशित कोशों और शब्दावलियों से भी सहायता ली है। इस प्रकार इस कोश को वर्तमानकालीन हिन्दी भाषी जनता के लिए सर्वथा उपयुक्त बना दिया है। मुझे यह कहते हुए लेशमात्र भी संकोच नहीं होता कि हिन्दी भाषा की निधि की श्रीवृद्धि करने वाला यह एक नवीन रत्न है जिसके लिए श्री आचार्य जी बधाई के पात्र हैं।

—पं मंगलदेव शास्त्री
भू० पू० उपकुलपति,
वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय

There is no doubt that Sri Acharya has laboured hard to make his dictionary ('श्री अरविन्द शब्दकोष') as complete and comprehensive as possibe and as precise and correct as lay in his power.

—Pioneer

———

